—: सर्वोदय साहित्य माला : एक सौ बारहवाँ ग्रन्थ :—

अहिंसा-विवेचन
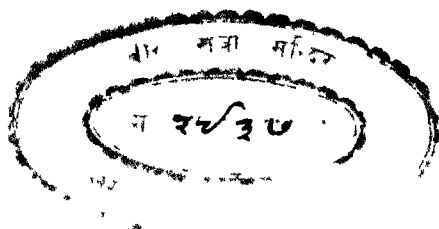
किशोरलाल घ० मशरूवाला

सस्ता साहित्य मण्डल, नयी दिल्ली

दिल्ली : लखनऊ : इन्दौर : वर्धा : इलाहाबाद : कलकत्ता

जनवरी, १९४२ : २०००

मूल्य

आठ आना

प्रकाशक—

मार्तण्ड उपाध्याय, मंत्री

सस्ता साहित्य मण्डल,

नयी दिल्ली

मुद्रक—

देवीप्रसाद शर्मा,

हिन्दुस्तान टाइम्स प्रेस,

नयी दिल्ली

आदि-वचन

यह एक संयोग की ही बात है कि 'व्यावहारिक अहिंसा'-सम्बन्धी ये निबन्ध रिचार्ड बी० ग्रेग-लिखित 'अहिंसा और अनुशासन'[1] के लगभग साथ-ही-साथ प्रकाशित होरहे है। अहिंसा के उपासको को इन्हें एकसाथ ही पढना चाहिए। रिचार्ड ग्रेग की तरह किशोरलाल मशरूवाला भी अहिंसा के गहरे विद्यार्थी है। यद्यपि इसी विश्वास के वातावरण में उनका लालन-पालन हुआ है, किसी भी बात को वे स्वयसिद्धि के रूप में नही मान लेते। वे तो केवल उसीपर विश्वास करते है जिसे वे अपनी कसौटी पर कस लेते है। इस प्रकार भारी सोच-विचार के बाद वह अहिंसा को मानने लगे है। और अपने जीवन एव व्यवहार द्वारा राजनैतिक, आर्थिक, सामाजिक तथा घरेलू आदि विविध परिस्थितियो में उसकी उपयोगिता को उन्होने सिद्ध किया है। इसलिए उनके निबन्धो का अपना विशेष महत्त्व है। मुझे आशा है कि अहिंसा में विश्वास रखनेवालों को अपना विश्वास कायम रखने और ईमानदारी के साथ विश्वास न करनेवालों को अपनी शकाओ का समाधान करने में इनसे मदद मिलेगी।

सेवाग्राम,
३१ अगस्त, १९४१

मो० क० गांधी

---

[1] इस पुस्तक का अनुवाद भी मंडल से शीघ्र प्रकाशित हो रहा है।

भूमिका

इन दो-तीन सालो मे अहिंसा को लेकर मैने जो कुछ लेख लिखे है, उनमें से छ लेखो का इसमें सग्रह है। पुस्तक की मोटाई न बढाने की दृष्टि से, फिलहाल इतने ही चुने गये है। ये सब 'सर्वोदय' मासिक मे आ चुके है। इनमे से पहला मूल गुजराती मे और दूसरा और छठा मूल अग्रेजी मे लिखे गये थे, और तीनो छपने से पहले ही गाधीजी की नजर से गुजर चुके थे। पहले और दूसरे की अग्रेजी पुस्तिका के लिए उन्होने आदि-वचन भी लिखा है। तीसरा लेख पहले मराठी में लिखा गया था।

लेखो की भाषा के बारे मे थोडी सफाई कर देना जरूरी है। कुछ लेखो का अनुवाद मेरा किया हुआ है, और कुछका मित्रो ने किया है। जहाँ मेरा अनुवाद या मूल लेख भी हो, वहाँपर भी मित्रो द्वारा मेरी भाषा मे सशोधन किया ही जाता है। और हर वक्त एक ही मित्र नही करता, तथा मेरा भाषा-ज्ञान भी दिन-दिन बदलता रहता है, इसलिए पुस्तक में एक ही तरह की भाषा-शैली नही मिलेगी। कृपालु पाठक-गण लेखों के विचारो का ही खयाल करे, भाषा और शैली को दरगुजर करे। मै चाहता कि मै इसकी भाषा और शैली ज्यादा सरल कर सकता।

सेवाग्राम
२५-१२-४१

कि० घ० म०

विषय-सूची

अहिंसा-विवेचन

: १ :

अहिंसा के आदर्श, सिद्धान्त और आचार

[अहिंसा के ही मार्ग से जो लोग जनता की सेवा और देश की भलाई साधना चाहते है, उनके उद्देश्य, सिद्धान्त और बर्ताव कैसे हों, इसकी रूपरेखा—जिसे कि गांधीजी ने पसन्द किया है—अहिंसा के सेवकों को राह दिखाने के लिए यहाँ दी जाती है —]

१
आदर्श और सिद्धान्त

१ जीवन का सच्चा आधार या बुनियाद अहिसा ही है, न कि हिसा।

२. 'मै' और 'मेरे' के तग दायरे मे बँधे रहने से ही हिंसा पैदा होती है। यह दायरा लगातार बढाते जाना ही अहिसा की साधना है।

३ सारे जीव एक-से है। बल्कि सबमे एक ही आत्मा है। (इसलिए, कहने की जरूरत नही कि, सभी आदमी बराबर है।) परन्तु चूंकि अहिसा की साधना मनुष्यो मे करनी है, इसलिए, मनुष्य-समाज का विचार खास तौर पर करना चाहिए।

४ सारा मनुष्य-समाज एक ही परिवार (खानदान) है। स्त्री-पुरुष भी समान है। परन्तु उस परिवार मे देश, राज्य, वश, रग, वर्ण (धन्धा), जाति, धर्म, शिक्षा, पैसा, भाषा, लिपि वग़ैरा के भेदो के सबब से जुदी-जुदी टोलियाँ बन गयी है। इन्ही भेदो(फर्कों) की वजह से व्यक्तियों और कौमो मे भी विशेषताएँ या खासियते पैदा हो जाती है।

५. इन फर्कों या खासियतो को टालना या नजरअदाज करना मुमकिन नही है। लेकिन उनपर घमण्ड या दुरभिमान करना ठीक नही है। ये फ़र्क़ और खासियतें जिस हदतक समूचे मानव-परिवार की भलाई

और सुख बढाने मे मदद पहुँचाते है, उसी हदतक उनकी हिफाजत करनी चाहिए और उन्हे बढाना चाहिए। अपनी इस तरह की विशेषताएँ मानव-परिवार की सेवा में लगा देना और, अगर वे मनुष्यो की किसी भी जमात को तकलीफ देनेवाली हो तो, खुशी से उन्हे छोड़ देना अहिंसा की साधना है। सभी फर्कों और खासियतो को बिलकुल मिटाकर सारी मनुष्य-जाति को किसी एक ही ढाँचे मे ढालने की कोशिश बेकार है। और न वह बिना हिंसा के हो ही सकती है।

६ भेद और विशेषताओ की बदौलत दूसरो के प्रति हमारे कुछ कर्तव्य उत्पन्न हो जाते हैं, न कि अधिकार या घमण्ड। इसीमें से सर्व-धर्म-समभाव, अस्पृश्यता-निवारण, (भोजनादि व्यवहारो मे) एक पगत आदि आचार अहिंसा की साधना मे लाज़िमी तौर पर पैदा हो जाते है।

७ मानव-परिवार के हरएक व्यक्ति के सुख और भलाई के लिए यह ज़रूरी है कि मानव-व्यवहार मे से हिंसा बिलकुल मिटादी जाये।

८ एक जमात जब हिंसा करती है, तब उसका बदला लेने या उससे अपना बचाव करने के लिए हिंसा करने की प्रेरणा दूसरे पक्ष के दिल मे उठती है। इस प्रकार हिंसा के ज़रिये हिंसा का निपटारा करने की वृत्ति ने मानव-कुटुम्ब मे घर कर लिया है।

९ परन्तु इस रीति से हिंसा बद नही होती और न अन्त में दोनो जमातों मे न्याय का सबध (ताल्लुक) ही कायम होता है। नतीजा यह होता है कि, कुल मिलाकर, हिंसा करनेवाले पक्ष अपने को, अपने बाल-बच्चो और सारे मानव-परिवार को नुकसान पहुँचाते है।

१०. इसलिए अन्याय (नाइन्साफी) या बुरा काम चाहे कितना ही ज़बर्दस्त क्यो न हो, उसके खिलाफ हिंसा से काम हरगिज़ नही लेना

चाहिए। हिंसा के तरीके आजमाने की वृत्ति को दबाने से ही अहिंसा की साधना हो सकती है।

११ अहिंसा मे जीवन का उचित धारण-पोषण और विकास करने की शक्ति भरी हुई है और होनी ही चाहिए। इसलिए जिन अन्यायों या बुरे कामो के खिलाफ हिंसक उपाय काम मे लाने को जी चाहता है, उनके अहिंसक इलाज भी होने ही चाहिएँ। जो सच्चे दिल से अहिंसा की साधना करेगा, वही उन्हे खोज सकेगा।

१२ जीवन का हरएक व्यवहार अहिंसा के द्वारा चल ही सकना चाहिए। अमुक क्षेत्र मे अहिंसा काम ही नही देगी, यह अश्रद्धा हमें अपने दिल से निकाल देनी चाहिए और समाज मे से भी उसे मिटाने की कोशिश करनी चाहिए। जबतक अन्याय मिट नही जाता, तबतक अहिंसा की साधना अधूरी ही माननी चाहिए।

१३ परन्तु इसके लिए हमे सभ्यता या तहजीब के बारे मे अपनी कई मौजूदा धारणाओ (खयालो) मे फर्क करना होगा।

अबतक अहिंसा की जितनी साधना हुई है, उसके अनुसार नीचे लिखे सिद्धान्त (उसूल) अहिंसा के अग (जुज) माने जा सकते है:—

१४ भोग-विलास और ऐश-आराम की इच्छाओ का हिंसा से सीधा सबध है। इससे उलटा, सादगी, सयम, तितिक्षा (तकलीफ बर्दाश्त करने की ताकत) और शारीरिक श्रम अहिंसा के अनुकूल (मुआफिक) है।

१५ बहुत बडी और जबरदस्त तजवीजे और आँखो को चौंधियानेवाला अमन-चैन तथा ऐश-आराम का मसाला जुटा देनेवाली सभ्यता (तहजीब) हिंसा के बिना न तो कायम हो सकती है और न टिक ही सकती है। इन दिखावो या रूपो में सस्कृति का दर्शन करना ही गलत है।

१६ सच्ची सस्कृति की बदौलत मानव-परिवार के हर शख्स का

जीवन सादा, सयमी, मजबूत, मेहनती और साथ-साथ नीरोग, निडर, स्वाभिमानी और मीठा होना चाहिए। यही सर्वोदय (सभी की भलाई) की सस्कृति है। ऐसी सस्कृति का कायम होना अहिंसा के द्वारा ही मुमकिन है।

१७ अहिंसक सस्कृति का अभिप्राय (मक़सद) अव्यवस्था, अराजकता या एक-दूसरे से अलग-अलग रहनेवाले जुदे-जुदे गिरोह बनाना नही है। वरन् सारे प्राणियो से——यहाँ तक कि जानवरो से भी——एकता करना है। लेकिन इतना काफी नही है कि हम अपने मोटे और बडे-बडे कामो मे ही इस एकता का खयाल करे। वरन् छोटे-से-छोटे जीवो को भी जिन्दगी की सहूलियते देने मे हमारा सिद्धान्त प्रकट होना चाहिए। इस ध्येय को निगाह मे रखते हुए समय-समय पर केन्द्रीकरण और विकेन्द्रीकरण (सेण्ट्रलाइजेशन और डी-सेण्ट्रलाइजेशन) तथा शक्ति-यन्त्र और शरीर-यन्त्र (मशीन-पावर और मैन-पावर) की मर्यादा परिस्थिति के अनुसार खोजनी और ठहरानी चाहिए।

१८ अहिंसा की साधना की सफलता के लिए बहुत-से लोगो के एक सघ का होना लाज़िमी नही है। हरएक आदमी के लिए यह ज़रूरी है कि वह अपने जीवन मे उसका अलग प्रयोग करे। उसे खासकर अपने बर्ताव से लोगो को अहिसा की तरफ खीचना चाहिए। मगर इसका यह मतलब नही है कि अहिसा का सेवक लोगो के सहयोग की पर्वाह ही न करे, या कोई सघ बनाना गलत ही समझे, या उसका महत्त्व ही न पहचान सके।

१९ सत्याग्रही के लिए अहिसा परमधर्म ही नही, बल्कि स्वधर्म भी है। इसलिए सुख-दुख, नफा-नुकसान, हार-जीत या मौत भी आ पडे, तो भी उसे अगीकार करने से डिगना नही चाहिए। ईश्वर, आत्मा या विश्व के तत्त्व का जो ज्ञान तथा अभय, सेवा-वृत्ति, आत्मसम्मान

(खुद्दारी) आदि जो गुण, और प्रार्थना, यम-नियम, प्रेम वगैरा जो जीवन-चर्याएँ इस प्रकार की निष्ठा (एतकाद) पैदा करे—उन सबका नाम ईश्वरोपासना और श्रद्धा है।

२

अपेक्षित आचार

१ ऊपर कहे हुए आदर्शों और सिद्धान्तो की सफलता के लिए जीवन मे जो कुछ परिवर्तन करने की जरूरत महसूस हो और उसके लिए जो कुछ कुरबानी करनी पडे, उस फेर-बदल और कुरबानी के लिए अहिसा के साधक को हमेशा तैयार रहना चाहिए।

२ अहिसा के अमल की शुरूआत सबसे पहले उसे अपने व्यक्तिगत जीवन से ही करनी होगी। इसलिए उसके अपने रिश्तेदारो, साथियो, पडौसियो और अगल-बगल के समाजो मे उसका बर्ताव अहिसामय ही रहना चाहिए। उन सबसे उसका बर्ताव प्रेम का ही होना चाहिए। और मतभेद होने पर या उनके किसी अन्याय या बुरे काम का मुकाबला करने का मौका आने पर उसे अहिसा से ही काम लेना चाहिए। बल्कि किसी भी साधक को अपने शरीर, धन या इज्ज़त की हिफाजत के लिए या अपने साथ किये गये अन्याय को दूर करने के लिए दीवानी या फौजदारी अदालतो या पुलिस की मदद नही लेनी चाहिए।

३. उसे अपनी या अपनी क़ौम की जान, मिलकियत या इज्ज़त बचाने के लिए अथवा लडाई-झगडो को दबा देने के लिए हिसक उपाय काम मे लाने का विचार तक नही रखना चाहिए। बल्कि अहिंसा के जरिये ही इन मसलो को हल करने का रास्ता खोजना चाहिए और जरूरत होने पर मौत या दूसरी तरह की आफतो को जोखिम भी उठानी चाहिए।

४. व्यक्तिगत और सामाजिक जीवन में जो हिंसा होती है या जिसके होने का अन्देशा रहता है, ऐसी हरएक हिंसा का असली सबब खोजने की वह बराबर कोशिश करता रहेगा। हिंसा के रास्ते जानेवाले या जाने का इरादा करनेवाले पक्ष में जो सचाई होगी, उसे वह खुद कबूल कर, समाज में कराने की तथा उस पक्ष की शिकायत दूर कराने की कोशिश करेगा। इस तरह समाज को समझाने में अगर वह कामयाब न हुआ, तो हिंसा करने जानेवाले पक्ष से अहिंसक उपाय काम में लाने की प्रार्थना करेगा। अगर फिर भी कामयाबी न हुई, तो दोनों पक्षों के खिलाफ मुनासिब ढंग से सत्याग्रह करने का तरीका खोजेगा।

५. लोगों पर जब कोई आफत आ पड़े, तो खुद जोखिम उठाकर भी वह आफत में पड़े हुए लोगों की मदद करने के लिए दौड़ेगा।

६ इस बात के बाहरी लक्षण के रूप में कि वह इन सब बातों को समझता है, साधक नीचे लिखे नियमों का पालन करता रहेगा —

(क) उसे अस्पृश्यता, ऊँच-नीच का खयाल और पंक्तिभेद को बिल्कुल छोड़ देना चाहिए।

(ख) जाति, प्रान्त, सम्प्रदाय (फिरका), भाषा आदि सभी तरह के सँकरे दुरभिमानों से उसे बिलकुल बरी रहना चाहिए।

(ग) उनके दिल में सर्व-धर्म-समभाव सहज होना चाहिए।

(घ) स्त्री-पुरुष-व्यवहार और पैसों के मामले में उसका चरित्र शुद्ध होना चाहिए।

(च) उसे नियम से कातना चाहिए, खादीमय होना चाहिए और देहाती दस्तकारियों को प्रोत्साहन देना चाहिए।

(छ) सार्वजनिक सेवा में और खासकर रचनात्मक कामों में खुद मेहनत और त्याग करके नियमित-रूप से हाथ बँटाना चाहिए।

(ज) उसे सार्वजनिक सस्थाओ में अधिकार की इच्छा छू तक नही जानी चाहिए। चढा-ऊपरी या खुशामद आदि से अधिकार प्राप्त करने की कोशिश तो वह हरगिज़ नही करेगा और सत्य और अहिसा के वास्ते चाहे जितनी महत्त्व की जगह छोड देने को तैयार रहेगा।

जुलाई, १९४१

: २ :

व्यवहार्य अहिंसा

१

प्रस्तावना

हिंसा और अहिंसा का विवाद अब केवल बौद्धिक चर्चा का ही विषय नहीं रहा, बल्कि यह विषय आज हमारे लिए इतने तात्कालिक और व्यावहारिक महत्त्व का होगया है कि जितना शायद आज तक कभी नही हुआ था।

गाधीजी ने जबसे 'सत्याग्रह' के नाम से विख्यात अपनी प्रतिकार-पद्धति का प्रचार किया और उसके सिलसिले मे इस अहिंसा शब्द को राजनीति के क्षेत्र मे दाखिल किया, तबसे इस प्राचीन शब्द में एक नया अकुर निकला है। तीस से अधिक वर्षों से गाधीजी अपने लेखो और प्रत्यक्ष प्रयोगो द्वारा उसका अर्थ स्पष्ट करने मे अपनी शक्ति लगा रहे है। फिर भी, हममे से कई लोगो का यह विचार है कि यह विषय या तो इतना बारीक है कि वह मामूली आदमी की समझ से परे है या फिर उसका अमल करना हमारी ताकत से बाहर है।

दूसरी तरफ, हिंसा को हम सब समझ सकते है। थोडे मे कहे तो, नये अधिकार प्राप्त करने या पुराने हको की हिफाजत करने के लिए हमारी स्वार्थ-बुद्धि हमे जो-जो भले-बुरे उपाय सुझा दे, वे सब हिसा के क्षेत्र में आ जाते है। हमें रात-दिन अपने चारो तरफ उसका अत्यन्त भयकर और पकड मे ही न आ सके इतने सूक्ष्म रूपो में भी अनुभव होता रहता है। आज दो वर्षों से यूरोप जोरो से उसके प्रभाव मे आया है और उससे दुनिया की—या कम-से-कम हमारी—स्थिति

इतनी गम्भीर हो गयी है कि हमे अपने जीवन की रक्षा के लिए हिंसा और अहिंसा के बीच कुछ-न-कुछ निर्णय करके इस या उस रीति से अपने समाज को तैयार करना ही चाहिए।

परन्तु जबतक हमे हिंसा और अहिंसा की शक्तियो और मर्यादाओ की स्पष्ट कल्पना न हो, तबतक यह निर्णय बुद्धियुक्त नही हो सकेगा। इसलिए कुछ मेहनत करके भी दोनो को समझने की कोशिश करना उचित है। इन लेखो में मैंने इस विषय का अपने लिए विचार करने का प्रयत्न किया है। मुझे आशा है कि उससे पाठको को भी स्वय विचार करने मे मदद मिलेगी।

यह विचार करने मे मैंने यह मान लिया है कि जब जीने और मरने का सवाल सामने होता है, तब लाखो लोग अहिंसा की केवल नैतिक श्रेष्ठता के कायल नही रह सकते। कारण कि जब सामने सकट मुंह फाडे खडा हो, तब बहुतेरे लोगो का नैतिक सिद्धान्त डावांडोल हो जाता है, और उनका धैर्य तथा मनोबल काफूर हो जाता है।

परन्तु सयोगवश १९३९ के सितम्बर से यूरोप मे कुछ ऐसी घटनाएँ हुई है कि जिनके कारण हिसा-वादियो का भी हिसा पर से विश्वास डगमगाने लगा है। पारसाल समाचार-पत्रो को दिये हुए एक वक्तव्य में प्रकट हुए पण्डित जवाहरलाल नेहरू के नीचे लिखे उद्‌गार सभी विचारशील लोगो की मनोदशा व्यक्त करते है —

"... ...इस लडाई और उसके पहले की घटनाओ ने मुझे हिसा की व्यर्थता जैसी साफ दिखा दी है, वैसी उससे पहले कभी नही दिखायी थी। हिंदुस्तान की आज की हालत मे किसी बलवान् राज्य से हिंसात्मक साधनो द्वारा हिन्दुस्तान की रक्षा करने की बात तो बिलकुल फिजूल ही मालूम होती है। कम-से-कम मौजूदा लडाई मे तो फलोत्पादक रीति से वैसा

करना नामुमकिन है।"[१]

मानस-शास्त्र का यह नियम है कि एक शक्तिशाली वस्तु भी जिसका उसपर से विश्वास उठ गया हो उसके हाथ मे शक्तिदायिनी नही हो सकती। जैसा कि वॉन दर गॉल्ज ने कहा है, "शत्रु की सेना का नाश करने की बात इतना महत्त्व नही रखती जितना कि उसकी हिम्मत तोडने की बात रखती है। अगर दुश्मन के दिल में तुम यह बात जमा सको कि वह हार रहा है, तो तुम्हारी जीत निश्चित है।"[२]

सन्त तुकाराम ने एक अभग मे डरपोक सिपाही की मनोदशा का वर्णन किया है —

"एक हाथ मे ढाल और दूसरे मे तलवार है। दोनो हाथ उलझे हुए है। अब मैं लडाई कैसे करूँ? बदन पर बख्तर और सिर पर टोप तथा कमर मे पट्टा लगा हुआ है। यह भी तो मेरी मौत का ही दूसरा निमित्त पैदा हुआ है। तिसपर, इन्होने मुझे घोडे पर बिठा दिया है। अब मैं दौडूँ और भागूँ भी कैसे? इस प्रकार सारे उपाय मौजूद होते हुए भी यह उन्हे अपाय समझता है और कहता है कि क्या करूँ।"

तात्पर्य यह कि जिस शस्त्र पर से हमारा आत्म-विश्वास उठ गया हो, उसका हम सफल प्रयोग नही कर सकते। इसलिए केवल अपने स्वार्थ की खातिर भी हमारे लिए अहिसा के व्यावहारिक अगो को ठीक तरह समझ लेना जरूरी है।

'क्या हम अहिसा-शक्ति का इस प्रकार विकास कर सकते हैं, कि जिससे हम अपने राष्ट्रीय स्वाभिमान, स्वतन्त्रता और जान-माल की ठीक-ठीक रक्षा करते हुए अपना जीवननिर्वाह कर सकने की बुद्धियुक्त

१. 'बाम्बे क्रानिकल' : ता० २३ जून, १९४०।

२. रिचर्ड ग्रेग : 'पॉवर ऑव नॉन-वायोलॅन्स'।

आशा कर सके ?"

इस सवाल का विचार करना इस लेखमाला का उद्देश्य है ।

२

शुद्ध अहिंसा और व्यवहार्य अहिंसा

जैसा कि मैं ऊपर कह चुका हूँ, हिंसा को हम सब समझ सकते हैं। जैसे कि द्वेष, बदला, बैर, लडाई, क्रूरता, पशुता (हैवानियत), दगा, जुल्म, बलात्कार, अत्याचार, शोषण वगैरा तरह-तरह की बुराइयो में हिंसा है। इसी तरह हिंसा के ठीक विपरीत शुद्ध अहिंसा के गुण को समझना भी मुश्किल नही है। जैसे कि प्रेम, क्षमा, मैत्री, शान्ति, दया, सभ्यता, सरलता, सेवा, रक्षा, दान, उदारता आदि सब प्रकार की भलाई शुद्ध अहिंसा है। यदि एक मनुष्य चाहे तो उसके लिए शुद्ध अहिंसक अर्थात् परोपकारी, उदार, निःस्वार्थ होना असम्भव नही है।

परन्तु साफ है कि यह स्वभाव जबरदस्ती से नही आ सकता। मनुष्य उसे अपनी राजी-खुशी से ही प्रकट कर सकता है। शुद्ध अहिंसा दिखाना और अपने अधिकारों का दावा भी पेश करना—ये दोनों बाते एक साथ नहीं हो सकती। मगर शुद्ध अहिंसक होते हुए भी दुष्कर्म से प्रेम नहीं किया जा सकता। उसकी घृणा तो रहेगी ही। अब गाधीजी जिस अहिंसा को समझाते है, उसमे हमारे अधिकार नष्ट करनेवाले की हिंसा किये बिना अपने अधिकारो का दावा पेश करने की एक बीच की पद्धति है। शुद्ध अहिंसा और इस अहिंसा के इस भेद को समझ लेना ज़रूरी है। इसलिए मैंने इस दूसरी चीज़ को व्यवहार्य (व्यवहार में आने योग्य) अहिंसा का नाम दिया है। देश के राजनैतिक और सामाजिक प्रश्नो के लिए इस प्रकार की व्यवहार्य अहिंसा का क्या अर्थ है, उसकी क्या शर्तें हैं और कितनी शक्ति है, उसके जरिये हमारे मिटे हुए अधिकार

हमे फिर से कैसे प्राप्त होगे और प्राप्त अधिकारो की रक्षा किस प्रकार होगी—इसकी शोध अगर हम कर सके, तो काफी है।

क्षणभर के लिए मै 'शुद्ध अहिंसा' की जगह 'अति-भलाई' और 'हिंसा' की जगह 'बुराई' शब्द लाऊँगा। थोडा-सा विचार करने से मालूम होगा कि मनुष्य की ऐसी बीच की स्थिति हो सकती है, जहाँ न तो वह अति-भला होगा और न बुरा ही। अति-भलाई का उद्भव नि.स्वार्थता, दूसरे के भले के लिए खुद कष्टसहन करने की वृत्ति मे से होता है। सस्कृत मे उसे 'परार्थ' कहते है। परन्तु हमेशा यह नही कहा जा सकता कि एक मनुष्य परार्थ श्रम नही करता, इसलिए वह बुरा ही है। बुराई के बिना भी स्वार्थवृत्ति हो सकती है। जैसे मै अपना खेत या उधार दी हुई रकम वापस पाने की इच्छा करूँ, तो मै अति-भला होने के श्रेय का हकदार नही हो सकता, परन्तु यदि कोई मुझपर बुरा होने का आक्षेप लगाये तो, उसे मै स्वीकार नही करूँगा और अपनी चीज वापस पाने की इच्छा मे जो स्वार्थ-वृत्ति है, उसे स्वीकार करने मे शर्माऊँगा भी नही, बल्कि जरूरत होने पर यह भी कहूँगा कि मेरी यह स्वार्थ-वृत्ति न्याय्य और उचित है।

मनुष्य-मनुष्य के बीच टण्टा एक तरफ अति-भलाई और दूसरी तरफ बुराई के बीच नही होता, वरन् एक तरफ न्याय्य और उचित स्वार्थ-वृत्ति और दूसरी तरफ से अति-बुराई के बीच होता है। इस बुराई मे खुल्लम-खुल्ला अन्यायी अथवा न्याय का जामा पहनी हुई स्वार्थ-वृत्ति होती है। अर्थात् न्यायी स्वार्थ और अन्यायी अथवा न्यायाभासी स्वार्थ का कलह होता है। और हमारी खोज का विषय यह है कि बुराई के साधनो का प्रयोग किये बिना अन्यायी स्वार्थों का मुकाबला करके हम अपने न्यायी स्वार्थ किस प्रकार सिद्ध कर सकते है?

इसकी जो रीति होगी वही व्यवहार्य अहिसा होगी।

इससे मालूम होगा कि व्यवहार्य अहिसा मे हिंसात्मक उपाय शामिल नही हो सकते; अलबत्ता शुद्ध अहिसा की वृत्तियां हो सकती है। अथवा यो कह लीजिए कि हर प्रकार की स्वार्थ-वृत्ति मे बुराई का होना जरूरी नही है और भलाई के अश का उससे विरोध नही है।

इस तरह व्यवहार्य अहिसा की व्याख्या नीचे लिखे अनुसार की जा सकती है :—

बुराई से रहित और भलाई के अश से युक्त न्याय्य स्वार्थ-वृत्ति व्यवहार्य अहिसा है।

यह आदर्श या शुद्ध अहिसा नही है। वह तो अति-भलाई का ही दूसरा नाम है। जिस मनुष्य को अपने अधिकारो की तीव्र वासना हो, और उन्हे प्राप्त करने की उत्सुकता हो, वह अति-भलाई नही कर सकता। परन्तु विरोध करते हुए भी वह न्यायी और अहिसक रह सकता है। विरोध का शमन होने पर उदारता भी दिखा सकता है। विरोध के चालू रहने तक उसकी भलाई की वृत्ति कुछ लुप्त हुई-सी मालूम होगी। परन्तु ऊपर की व्याख्या के अनुसार वह हृदय मे तो रहेगी ही।

अब देखना यह है कि एक बलवान शक्ति के रूप में क्या ऐसी व्यवहार्य अहिसा का सगठन सम्भव है? और अगर सम्भव है, तो उसकी मर्यादा और पद्धति कौन-सी हो सकती है?

३

साधारण आदमी

इस विषय का और आगे विचार करने के पहले कुछ मूलभूत धारणाएँ प्रस्तुत करना आवश्यक है। क्योंकि, अगर इनके विषय में ही मतभेद हो, तो बाकी के विचार को स्वीकार होने में सन्देह रहेगा। मनुष्य-

स्वभाव को जाननेवाले अधिकाश लोग मेरे मन्तव्यो मे सहमत होगे, ऐसा मानकर मै अपने विचार रखता हूँ।

मेरी राय मे मनुष्य-समाज का बहुत बडा हिस्सा साधारण रीति से हिसा और बुराई से घृणा करता है। वह एक हद तक भलाई करना पसन्द करता है, और हमेशा उसके प्रति आदर रखता है। जो प्रजाएँ खेती-बाडी और लडाई से संबध न रखनेवाले उद्योग-धन्धो तथा व्यापार में लगी हुई हैं, उनमे यह बहुमति अधिक मात्रा मे होती है। जो प्रजाएँ खानाबदोश और लुटेरो की जैसी वृत्ति की हैं और धन्धो तथा शस्त्रो के उद्योगो पर अपना जीवन-निर्वाह करती है, उनमे इस बहुमति की मात्रा कुछ कम होती है।

'मनुष्य-समाज का बहुत बडा हिस्सा हिसा मे घृणा करता है,' यह कहने से मेरा आशय यह नही है कि ये लोग हिमक आचरण कर ही नही सकते, अथवा हिंसक नेता के नेतृत्व मे उन्हे हिंसक कार्यों के लिए सगठित करना असभव है। मै यह भी नही कहना चाहता कि वे कभी स्वेच्छा से तो हिसा करते ही नही। मेरा आशय इतना ही है कि हिंसा की तरफ उनका इतना स्वाभाविक झुकाव नही होता अथवा अहिसा से उन्हे इतनी घृणा नही होती कि उन्हे दृढतापूर्वक हिसा से दूर रहने की सलाह दी जाने पर भी वे उसे मानने मे असमर्थ रहे। इतना ही नही, बल्कि मनुष्य-समाज के बहुत बडे हिस्से को अगर हिंसा तथा बुराई और अहिसा तथा भलाई मे से किसी एक को स्वतत्रतापूर्वक पसद करना हो, तो साधारण परिस्थिति मे वह अहिंसा और भलाई को ही पसन्द करेगा।

मै यह नही मानता कि यह बात केवल हिन्दुस्तान पर ही लागू होती है, किंतु स्थायी-रूप से बसी हुई सभी देशो की प्रजाओं पर लागू

होती है। सामान्य दुनियादार आदमी को अपने घर, परिवार, मिलकियत और देश तथा देशवासियो से आसक्ति होती है। इन सबका बिलकुल त्याग करने को वह तैयार नही होता। इसीलिए उनके लिए लडने को भी आमादा (उद्युक्त) होजाता है। यह लडाई किस तरह की जाये, यह निश्चित करने का काम वह अपने राजा या नेता को सौपता है। वह खुद भोला-भाला होता है और अगर उसे योग्य शिक्षा और मार्गदर्शन न मिले, तो बालक और जानवरो की तरह वह स्वय-प्रेरणा से बिना बिचारे हिंसा करने को भी प्रेरित होगा। परन्तु अपने विश्वासपात्र नेता का मार्गदर्शन मानने के लिए वह हमेशा तैयार रहता है और बाबर, शिवाजी या हिटलर जैसे अथवा बुद्ध और गाधी जैसे, दोनो प्रकार के नेताओ का एक ही से उत्साह और सचाई के साथ अनुसरण करता है।

परन्तु प्रत्येक युग और समाज मे कुछ असाधारण मनुष्य उत्पन्न होते रहते है। उनमे या तो असाधारण बुराई होती है अथवा असाधारण भलाई। भला व्यक्ति सिर्फ बहुत भला ही नही होता वरन् उसे अति भलाई से आसक्ति हो जाती है, और उसी तरह बुरे व्यक्ति को भी बुराई का चस्का पड जाता है। इसके साथ-साथ इन दोनो प्रकार के व्यक्तियो मे असाधारण बुद्धि और अपनी बाते लोगो के गले उतारने की अद्भुत शक्ति भी होती है। भलाई का अवतार मनुष्य की सात्विक शक्तियो को प्रोत्साहित करता है तथा दूसरा उसकी स्वार्थ-वृत्तियो को उकसाता है। कुछ लोग सात्विकता की तरफ आसानी से झुकते है और कुछ लोग बुराई की तरफ। परन्तु बहुतेरे लोग अस्थिर वृत्ति के होते है और कभी इधर को तो कभी उधर को झुकते रहते है। ऐसे लोगो के लिए दोनो वृत्तियाँ तात्कालिक उमगो जैसी मानी जा सकती है।

मनुष्य-स्वभाव पर दोनो मे से कोई एक भी स्थायी चिह्न

छोड जाती हुई प्रतीत नही होती। थोडी देर मे अतिबुराई की लहर की तरह अति-भलाई की लहर भी शान्त हो जाती है। अन्तर इतना ही होता है कि बुराई की अपेक्षा भलाई के युग की स्मृति विशेष अभिमान और आदर से ताजा रक्खी जाती है। तिसपर भी आश्चर्य यह है कि दोनो प्रकार के नेताओ की स्मृति जनता एक ही से आदर और पवित्रता से रखती हुई मालूम पडती है। परन्तु भलाई के युग के लिए विशेष प्रेम और आदर, तथा उसे फिर से पाने की आकाक्षा के आधार पर इतना कह सकते है कि सामान्य मनुष्य साधारण रीति से हिसा और बुराई से घृणा करता है और अहिसा और भलाई की तरफ उसका झुकाव होता है।

४

सामुदायिक भलाई तथा हिसा के लक्षण

अब एक कदम आगे बढे।

मनुष्यो के बहुत बडे भाग का झुकाव भलाई की तरफ होता है। इतना ही नही, उनमे उस झुकाव के कुछ विशेष लक्षण भी होते है। उदाहरण के लिए, जहाँ नेताओ ने कृत्रिम रीति से लोगो की भावनाओ को उत्तेजित न किया हो, वहाँ प्रजा प्राय पास के शत्रु की अपेक्षा दूर के शत्रु के लिए विशेष उदार वृत्ति रखती है, चाहे वास्तव में उस दूर के विरोधी से उसे अधिक नुकसान क्यो न पहुँचता हो। और—बात चाहे कुछ विचित्र-सी भले ही हो—लोग दुर्बल और गुप्त शत्रु की अपेक्षा जबरदस्त और प्रकट शत्रु के प्रति विशेष सद्भाव रखते है। उदाहरण के लिए, बहादुर-से-बहादुर लुटेरा भी लोगो को उतना कष्ट नही दे सकेगा, जितना कष्ट और त्रास अनेक यूरोपीय देशो को नेपोलियन ने पहुँचाया था। फिर भी, जब वह हार गया तो आम जनता

को ऐसा नही लगता था कि इसे मृत्यु-दण्ड देना चाहिए। कल अगर हिटलर की भी नेपोलियन की जैसी दुर्दशा हो जाये, तो मै समझता हूँ कि लोग उसके लिए भी ऐसा ही उदार भाव रक्खेगे। ऐसे मौके पर विरोधी राजनैतिक नेता भी शायद इसी प्रकार का निर्णय करेगे। परन्तु जहाँ इनके निर्णय के पीछे राजनैतिक दृष्टि हो सकती है, वहाँ लोग, राजनैतिक दृष्टि से नही, बल्कि बलवान शत्रु के लिए प्रामाणिक आदर के कारण, ऐसी ही धारणा रख सकते है। परन्तु यदि कही उन्ही लोगो के हाथ उनके गाँव पर धावा बोलनेवाले लुटेरो के गिरोह का सरदार लग जाये, तो उसे यन्त्रणाएँ दे-देकर मार डालने मे वे न हिचकेगे।

शान्त चित्त से विचार किया जाये, तो लुटेरो के सरदार द्वारा किया गया नुकसान या अत्याचार नेपोलियन या हिटलर के अत्याचार के मुकाबले मे बिलकुल तुच्छ है। परन्तु लोक-समूह की भलाई और हिंसा मे इस प्रकार का विरोध होता है। कारण यह है कि जब नेपोलियन-जैसे शत्रु से युद्ध हो रहा हो, तब भी लोक-दृष्टि मे लुटेरो की अपेक्षा वह अधिक दूर का, अधिक जबरदस्त और अधिक प्रकट शत्रु प्रतीत होता है और यह बात उनके आदर का पात्र बन जाती है।

इसी कारण देश के विरोधी राजनैतिक दलो की अपेक्षा अंग्रेज और उनके नौकर तथा मुलाजिमो के लिए लोगो के दिल मे कम द्वेष है और विरोधी दलो मे भी स्थानीय नेताओ की अपेक्षा मुख्य नेताओ से कम द्वेष होता है। हालाँकि अगर वे बुद्धि से विचार करे, तो समझ सकते है कि उनका मुख्य विरोध तो अंग्रेजो अथवा विरोधी दलो के मुख्य नेताओ से ही होना चाहिए। परन्तु मुख्य नेता की अपेक्षा स्थानीय कार्यकर्त्ता अधिक नजदीक है और अंग्रेजो की अपेक्षा राजनैतिक विरोधी

दल अधिक निकट है। इसीलिए धारणा की तीव्रता मे अन्तर पड जाता है।

और फिर अधिकतर लोग खून, अत्याचार, बलात्कार, लूट-खसोट जैसी स्थूल हिंसा को जिस प्रकार समझ सकते है, उसी प्रकार वे व्यसन, विलास और शोषक अर्थ-नीति आदि के द्वारा की जानेवाली सूक्ष्म हिंसा को नही समझ सकते। इसलिए वे दूसरे प्रकार की हिंसा के प्रति क्षमा या उपेक्षा-वृत्ति रखने के अधिक आदी और इच्छुक होते है। परन्तु पहली प्रकार की हिंसा मे अधिक उत्तेजित होते है। इसी कारण वे किसी खास अन्याय या कठिनाई का विरोध करने के लिए जितनी आसानी से तैयार हो जाते है उतनी आसानी से सूक्ष्म रूप मे होनेवाले अन्यायो अथवा बुद्धि-प्रयोग से ही समझ मे आनेवाले अधिकारो के लिए तैयार नही हो सकते। विदेशी राज्य से होनेवाला नुकसान इतना गुप्त है और उसमे इतनी ललचानेवाली बाते मिली हुई है कि लोग यह आसानी से जान ही नही पाते कि उस राज्य मे कोई वास्तविक जीवनस्पर्शी और असहनीय हानि हो रही है। हमारे जैसे देश मे यह बात विशेष मात्रा में होती है, क्योकि हमारे देश के हरएक विजेता ने देश के प्रजाजनो से सम्बन्ध रखनेवाला कारोबार देश के आदमियो द्वारा ही हमेशा चलाया है। ऐसी बात नही है कि लोग स्वराज की लडाई को बुद्धि से भी न समझ सकते हो, परन्तु यह इतनी धुँधली होती है कि उसकी बदौलत उनके भीतर स्वराज के लिए तीव्र जोश उत्पन्न नही होता। इसके अतिरिक्त जनता के स्वाभाविक अहिंसक झुकाव के कारण केवल स्वदेशी सरकार की अपेक्षा स्थिर और व्यवस्थित राज्य के लिए उसे अधिक आदर होता है।

सारांश यह कि आन्तरिक राज्यक्रान्ति के लिए लोकमत हिंसक साधनो की अपेक्षा अहिंसक साधनो के पक्ष मे ही पूरी तरह होता है।

इसी कारण हिन्दुस्तान के लोगो ने चाहे अब-तब राजनैतिक अत्याचारियो और क्रान्तिकारियो की थोडी-बहुत वाह-वाही भले ही की हो, तो भी उनकी महत्त्वपूर्ण मदद नही की। मै यह नही मानता कि यह हिन्दुस्तान की ही विशेषता है। मै समझता हूँ कि किसी दूसरे देश में भी इसी प्रकार की परिस्थिति मे ऐसा ही होगा।

५

दो बुनियादी संस्कृतियाँ

लोक-समूह की अहिंसक प्रवृत्ति के विषय मे मै जो कुछ कह चुका हूँ, वह मेरी समझ मे समग्र मानव-जाति के विषय मे भी सच है। वह किसी खास देश, जाति या धर्म की विशेषता नही है। मेरे नम्र मत से राजधर्म तथा शत्रुओ और गुनहगारो के प्रति जो वृत्ति दूसरे धर्म और राष्ट्र धारण करते है, उससे वैदिक धर्म का शिक्षण अथवा साधारण हिन्दू का रुख कोई विशेष भिन्न प्रकार का नही होता। दूसरे धर्मों की तरह हिन्दू राजनीति-शास्त्र के अनुसार भी दण्ड अथवा, वर्तमान परिभाषा मे कहे तो, लाठी ही राजसत्ता का चिन्ह है। महाभारत और रामायण पढने से मेरे दिल पर जो सस्कार हुए हैं, वे अगर गलत न हो, तो धर्मराज अथवा राम-राज मे भी सख्ती के साथ राज-दण्ड का प्रयोग—अलबत्ता, आजकल की भाषा मे, कानून और व्यवस्था की रक्षा के लिए'—आवश्यक है। मै नही समझता कि यहूदी, ईसाई या इस्लाम-धर्म के शिक्षण से हिन्दू-धर्म का शिक्षण भिन्न प्रकार का है।

परन्तु इन विचारो के साथ-साथ हरएक धर्म ने एक दूसरे प्रकार की भी सस्कृति का विकास किया है। मै उसे 'सन्त-सस्कृति' कहता हूँ और पहले प्रकार की सस्कृति को, इससे अलग पहचानने के लिए, 'भद्र सस्कृति' कहता हूँ। मेरा यह आशय नही है कि भद्र संस्कृति

दुष्ट, शैतानी या हिंसा-युक्त ही होती है, बल्कि यह भी मानना होगा कि दुनिया की बड़ी-बडी प्रजाओ की जो जगमगाती अमलदारियाँ है, वे उसीकी बदौलत है। भद्र सस्कृति ने अनेक बडे-बडे कार्य और पराक्रम किये है : भव्य स्मारक खडे किये है, अमर साहित्य का निर्माण किया है और विज्ञान तथा कला का विकास किया है, मनुष्य में छिपी हुई सृजन और अभिव्यक्ति की अद्भुत और अपार शक्तियो के विकास में उसका बहुत बडा हाथ रहा है। परन्तु, जहाँ देखिए वहाँ, भद्र सस्कृति हमेशा वश, जाति, धन, सत्ता, विद्या, धर्म आदि के अभिमान पर ही ठहरी होती है और उसके साथ यह अभिमान कि हम श्रेष्ठ लोग है, हमेशा पनपता है। हिन्दू-धर्म मे या दूसरे किसी धर्म में भी उसने हिंसा का सम्पूर्ण निषेध नही किया है।

हिंसा और बुराई का निषेध करने का काम तो हरएक देश की सन्त-सस्कृति ने ही किया है और हरएक देश की सन्त-सस्कृति के संस्थापक अक्सर सामान्य जनता मे से ही उत्पन्न हुए हो, तो भी वे साधारण जनता के साथ एकरूप हुए दिखायी देगे। मनुष्य-मनुष्य के बीच की उच्चो-नीची श्रेणियाँ अचल है—और रहनी चाहिएँ—यह भद्र-सस्कृति का सिद्धान्त है और ये सारी श्रेणिया नष्ट होनी चाहिएँ—यह सन्त-सस्कृति का सिद्धान्त है। उनके नाश के लिए सन्त हिंसा या जबरदस्ती से काम नही लेते, बल्कि अहिंसा या भलाई के साधनो का ही प्रयोग करते है।

हरएक समाज में ये दोनो सस्कृतियाँ साथ-साथ ही प्रवर्तित हुई मालूम होती है। सामान्य समाज एक तरफ से भद्र सस्कृति के अधीन होकर रहता है और चुपचाप उसके पीछे जाता है और साथ-ही-साथ सन्त-सस्कृति की पूजा करता है तथा अपनी शक्ति के अनुसार उसे अपने जीवन में चरितार्थ करने की श्रद्धापूर्वक कोशिश करता है।

जब-जब सन्तो का विरोध हुआ है या उन्हे-सताया गया है, तब-तब उसके लिए भद्र सस्कृति ही सर्वथा उत्तरदायी रही है। परन्तु कुछ समय के बाद भद्र सस्कृति के अभिभावक इतना विनय दिखाते है कि वे सन्तों की वाह्यत: पूजा करने में जनता का साथ देते है।

इस सारे विवेचन का सार यही निकलता है कि सामान्य जनसमूह को आमतौर पर हिंसा और बुराई से घृणा है और भलाई की तरफ उसकी स्वाभाविक प्रवृत्ति है तथा सन्त-सस्कृति का मुक़ाबला करने के लिए भद्र सस्कृति के पास सिवा बल के और कोई दलील नही है।

६
हिन्दुस्तान की विशेष परिस्थिति

उपरिनिर्दिष्ट सामान्य मन्तव्यो मे हिन्दुस्तान की परिस्थिति की कुछ खास बाते और जोड देनी चाहिएँ :—

(१) यह सच है कि हिन्दू-धर्म की भी भद्र सस्कृति में हिंसा और लडाई का निषेध नही है। परन्तु हिन्दू-समाज का चार बड़े-बडे वर्गों में विभाजन एक विशेष वस्तु है। उसके कारण हिंसा और लड़ाई हिन्दू-समाज के एक बहुत छोटे अश का वश-परम्परागत धन्धा बन गया। अंग्रेज-सरकार ने हिन्दुस्तान की जो हालत कर दी है, उसी प्रकार की घटना हिन्दू-काल मे हुई होती, तो ऐसा कहा जा सकता कि हिन्दू-समाज के शासन-कर्ताओं ने शताब्दियो पहले सिपाहीगिरी को एक ही वर्ण का परम्परागत धन्धा क़रार देकर हिन्दुओ के बडे हिस्से को नि:शस्त्र बना दिया था। यद्यपि वास्तव में वैसा नही हुआ है, तथापि दोनो का परिणाम एक ही है। वर्ण-व्यवस्था ने जो बात अशत: और अधूरे रूप में की, वही अंग्रेज-सरकार ने पूरी और पक्की कर दी है। उसने सारी की सारी प्रजा को नि:शस्त्र कर दिया है।

निःशस्त्रीकरण की इस प्रवृत्ति का हिन्दू-धर्म की सन्त-संस्कृति ने कभी-कभी मूकभाव से ही क्यो न हो, स्वागत ही किया है। आजतक बौद्ध, जैन, वैष्णव, लिंगायत और दूसरे सन्तो द्वारा स्थापित बहुत से सम्प्रदायो का हिन्दू-धर्म मे निर्माण हुआ है। उनमे से कुछ एक निःशेष हो गये, और कुछ अबतक विद्यमान है। उन सबका उद्देश्य अपनी अपनी बुद्धि और शक्ति के अनुसार समानता, अहिंसा और न्याय के सिद्धान्तो पर प्रस्थापित संस्कृति का प्रचार करना है। उनके उपदेशो ने सिर्फ लड़ाई से ही नही बल्कि दूसरे प्राणियो की हिंसा और मांसाहार से भी घृणा का संस्कार पैदा किया है। हिन्दुस्तान ही एकमात्र ऐसा देश है जहाँ लाखो लोगो ने मांसाहार का त्याग किया है और सैकड़ो आदमी साँप को भी नही मारेगे।

मतलब यह कि हिन्दुस्तान की स्थिति नीचे लिखे अनुसार है —

समाज-व्यवस्था ने हिन्दू-समाज के बहुत बड़े हिस्से को निःशस्त्र कर दिया है।

सन्त-संस्कृति ने लड़नेवाली जातियो के भी कई लोगो से इच्छापूर्वक शस्त्र-त्याग कराया है। वे एक तरह के अयुद्धवादी[1] बन गये। यह परिवर्तन भी कई सदियो मे होता आया है।

---

१. हमारे जैन, वैष्णव प्रभृति अहिंसा-धर्मियों को मैंने जानबूझकर 'एक प्रकार के अयुद्धवादी' कहा है। उनकी अहिंसा स्वयं किसी की जान न लेने अथवा दूसरे जीवो के प्राण बचाने तक ही मर्यादित है। वह जीवन के सभी क्षेत्रों में व्याप्त नहीं है। लड़ाई के लिए उपयोगी व्यापार या उद्योगों में भाग न लेने की या अप्रत्यक्ष रीति से भी लड़ाई में मदद न देने की हद तक वह बढ़ी नहीं है। सैकड़ों क्षत्रियवर्गों ने स्वेच्छा से और विचारपूर्वक शस्त्रों को त्यागकर अहिंसक उद्योग-धन्धों को स्वीकार किया, वह बेशक अयुद्धवाद की दिशा में एक बड़ा क़दम माना जा सकता है।

राज्य-व्यवस्था ने हिन्दू और अहिन्दू सारी प्रजा को क़रीब सौ वर्षों से लगभग निःशस्त्र कर डाला है।

देश की आर्थिक व्यवस्था ने इससे भी बड़े हिस्से को, या यों कह लीजिए कि सारी आबादी के बहुत बड़े हिस्से को, यह हालत कर डाली है कि उसे शस्त्रो की कोई ज़रूरत ही नही रही, क्योंकि उनके पास ऐसी कोई निजी मिलकियत ही नही रही है, जिसे शत्रुओ या लुटेरो से बचाने की उन्हे चिन्ता रहे।

(२) हिंदुस्तान की परिस्थिति मे दूसरी खास बात यह है कि हमारा देश बहुत ही बड़ा है, याने रूस को छोडकर शेष यूरोप के बराबर। प्राचीन काल मे उसे देश के बदले यूरोप की तरह खण्ड ही कहते थे। इसके सस्कृत नाम—भारतवर्ष, भरतखण्ड, आर्यावर्त आदि खण्ड-सूचक है। आज हम जिन्हे प्रान्त कहते है, उनकी गिनती जुदे-जुदे राष्ट्रो मे हुआ करती थी। परन्तु कुछ समय के बाद—और अब उसे भी हजारो वर्ष बीत गये है—एक ही प्रकार की सस्कृति के प्रचार के कारण वह खण्ड के बदले एक ही देश बन गया और उसमें बसनेवाले सभी लोगो की एकमात्र मातृभूमि माना जाने लगा। उनमें आपस में झगडे-टण्टे भले ही होते रहते हो, भिन्न-भिन्न भागो की उन्नति और अवनति के रग भले ही बदलते रहते हो, जाति, धर्म, भाषा इत्यादि की गुत्थियाँ भले ही उपस्थित होती रहती हो, परन्तु तो भी भारतवासियो और विदेशियो के चित्त पर यह सस्कार पक्का जम गया है कि वह अनेक देशो का समूह नही है, बल्कि एक ही अखण्ड भौगोलिक प्रदेश है। इतना ही नहीं, यह संस्कार प्रकारान्तर से भी पक्का हुआ। अर्थात् विदेशी विजेताओ ने भी एक बार हिंदुस्तान में आकर बसने के बाद थोडे ही समय के पश्चात् हिंदुस्तान की सीमा के बाहर

के प्रदेशों पर अपना अधिकार जमाने या बनाये रखने की ज्यादा उत्सुकता नही दिखलायी। अधिक-से-अधिक अफगानिस्तान तक हिन्दुस्तान की हद मानी जाती थी। हिन्दुस्तान में साम्राज्य स्थापित करने की अभिलाषा करनेवालो के लोभ की मर्यादा इससे आगे क्वचित् ही बढी है।

(३) तीसरी बात हिन्दुस्तान की लोक-सख्या है। हमारे देश की आबादी घनी है। यह सम्भव नही है कि साम्राज्य-लोभी देश हमारे देश मे अपना राज कायम कर अपने देशवासियो को यहाँ लाकर बसाये। हमारे देश पर सदा के लिए अपना प्रभुत्व बनाये रखने की उनकी आकाक्षा के पीछे इस देश की साधन-सामग्री और हमारी प्रजा की मेहनत से अनुचित लाभ उठाने का हेतु ही हो सकता है।

(४) चौथी बात यह है कि अगर हिन्दुस्तान युद्धवादी बन जाये, तो भी वर्तमान युद्ध के दौरान मे तो उसके लिए परिणामकारक रीति से शस्त्र-सज्ज होना असम्भव है। भविष्य में भी वह विदेशी धन और निष्णातो की मदद से ही पारगत होने की आशा कर सकता है। लेकिन इस प्रकार तैयार होने की शर्तें इतनी कडी होने की सभावना है कि उनके बोझ के नीचे हिन्दुस्तान दब जाये और उसकी पूर्ण स्वतन्त्रता नाम मात्र की ही रह जाये। सहायता करनेवालो की नीयत हिन्दुस्तान को पैसो से खरीदने की रहेगी।

सारांश

इस सारी वस्तु-स्थिति से यह सार निकलता है कि—

(१) इच्छा या अनिच्छा से निःशस्त्रीकरण की दिशा में हम इतने अधिक आगे बढ गये है कि अब तो हमे अपनी वर्तमान परिस्थिति मे से ही जीवन और समृद्धि का मार्ग खोजना चाहिए। जिस शस्त्र-वृद्धि

की नीति का हम संसार से त्याग कराना चाहते हैं, उसी का अनुसरण करना हमारे लिए निरर्थक होगा। हम अपनी इतनी विशालता और घनी बस्ती के बावजूद भी अगर शस्त्रास्त्रों के बिना अपनी स्वतन्त्रता की रक्षा की आशा नहीं कर सकते, तो हमे सीधे-सीधे यह क़बूल कर लेना चाहिए कि नि:शस्त्रीकरण का आदर्श मूर्खतापूर्ण और भयावह है।

(२) इसके अलावा उपर्युक्त वस्तुस्थिति से ही प्रकट है कि हमारे अपने देशी सिपाहियों की भरपूर सहायता के बिना कोई भी आक्रमण-कारी हमारे देश के किसी भी हिस्से पर हमेशा के लिए कब्जा नहीं कर सकता।

(३) उसी प्रकार कोई भी विदेशी सत्ता रोज़मर्रा के कारोबार में साधारण जनता के नित्य सहयोग के बिना एक दिन के लिए भी राज नहीं कर सकती। और

(४) कोई भी विदेशी सत्ता चाहे वह कितना भी यन्त्रीकरण क्यों न करे, हमारे देश की मजदूरी की सहायता के बिना हमारे देश की साधन-सामग्री का उपयोग नहीं कर सकती।

(५) इसलिए हिन्दुस्तान अगर असहयोग की नीति पर पूरा-पूरा अमल कर सके, तो अपनी रक्षा के लिए वह उँगली भी न उठावे, तो भी कोई विदेशी सत्ता उसपर कब्जा नहीं कर सकती।

यह किस दर्जे तक सम्भव है, इसका विचार आगे किया जायेगा। यहाँ तो इतना ही कह देना काफी है कि अगर हम पूरी तरह और सन्तोषजनक रीति से अहिंसात्मक तन्त्र का संगठन न कर सकें, तो भी याद रहे कि हमारा हिंसकतन्त्र भी अत्यन्त निर्बल और हमारी अपनी दृष्टि से भयकारक रहेगा, क्योंकि अहिंसक तन्त्र की अपेक्षा हिंसक तन्त्र के लिए अत्यन्त मजबूत आन्तरिक संगठन कहीं अधिक आवश्यक है।

ऐसे संगठन के बिना जो सैनिक-आयोजन होगा, वह देश को स्वतन्त्र करने या रखने के बदले उसे भीतरी कलहों और अव्यवस्था में तथा बाहर के राज्यों के साथ षड्यन्त्रों और साजिशों में उलझाये रखने में ज्यादा व्यस्त रहेगा। पिछले हजार से अधिक वर्षों का हमारा यही अनुभव है। चीन का भी यही अनुभव है। इसलिए, जहाँतक मुझे स्मरण है, स्वतन्त्र चीन के पिता डॉ० सुन-यात-सेन का कथन था कि अंग्रेजी राज के कारण चीन की अपेक्षा हिन्दुस्तान की हालत कई तरह से बेहतर है क्योंकि हिन्दुस्तान को सिर्फ एक ही विदेशी सत्ता से लड़ना है, परन्तु (उनके जमाने में) चीन कहने को तो स्वतन्त्र राज्य माना जाता था, लेकिन दरअसल वह अनेक विदेशी मालिकों के कब्जे में था।

७

आक्रमण और अराजकता

हिन्दुस्तान को किसी विदेशी सत्ता द्वारा सदा के लिए जीते जाने से बचाने का अहिंसक संगठन ही एकमात्र उपाय है, यह मैंने अबतक बतलाया। अगर अहिंसा यह करने में सफल न हुई, तो हिंसा के सफल होने की आशा और भी कम है।

परन्तु यहाँ एक सवाल पूछा जा सकता है 'महमूद गजनवी, अहमदशाह अब्दाली या बाबर ने हिन्दुस्तान पर जिस प्रकार के आक्रमण किये, वैसे आक्रमणों से क्या अहिंसा उसे भविष्य में बचा सकेगी ? अथवा शिवाजी ने जिस प्रकार सूरत को लूटा या नादिरशाह ने देहली को लूटा, उसी प्रकार कोई आक्रमणकारी थोड़े दिन के लिए बम्बई, कलकत्ते और देहली पर कब्जा कर ले और वहाँ के बैंकों, भण्डारों तथा गोदामों और लखपतियों को लूटना शुरू कर दे, तो क्या अहिंसा से उसका प्रतिकार हो सकता है ?'

इसके जवाब मे मैं कहूँगा कि सिद्धान्त की दृष्टि से यह मानना ही पडेगा कि सम्पूर्ण अथवा आदर्श अहिंसा मे इस प्रकार की शक्ति है। परन्तु हम यहाँ इस प्रकार की आदर्श अहिंसा का विचार नही कर रहे हैं; व्यवहार्य अहिंसा का ही विचार कर रहे है। इसलिए मुझे कबूल करना चाहिए कि इस प्रकार की अहिंसा मे ऐसे आक्रमणो को संपूर्ण रीति से रोकने की सम्भावना हम मानें, तो भी वह बहुत दूर की मानी जायेगी। परन्तु इतना कहा जा सकता है कि अगर हम सुव्यवस्थित, निष्ठावान और वीरतापूर्ण व्यवहार्य अहिंसा का सगठन कर सके, तो इस प्रकार की चढाई के सिलसिले मे जो कत्ल, जुल्म, सम्पत्ति का सरे-आम विध्वस और दूसरे फौजी उपद्रव आम तौर पर हुआ करते है, उनके परिणाम और प्रकार कम होने का अच्छा सम्भव रहेगा। इससे कई गुना ज्यादा यह भी सम्भव है कि ऐसी अहिंसा के फल-स्वरूप आक्रमणकारियो मे से कुछ के हृदय मे पश्चात्ताप और शर्म की भावना पैदा हो। और इतना तो निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि इस प्रकार की अहिंसक बहादुरी इतिहास मे अमर कीर्ति छोड जायेगी। हिंसक प्रतिकार में भी इससे ज्यादा आश्वासन नही मिलता। हिंसा मे कुछ-न-कुछ आध्यात्मिक हानि होती ही है। वह अहिंसक वीरता मे नही होती। परन्तु यदि आप यह कहे कि अहिंसा जब किसी भी प्रकार का भौतिक नुकसान न होने देने का आश्वासन दे सकेगी, तभी हम उसकी शक्ति सच्ची मानेंगे, तो मुझे कहना होगा कि हिंसक प्रतिकार मे भी तो इस प्रकार का कोई आश्वासन नही दिया जा सकता। इसलिए अहिंसा पर ऐसी शर्त लगाना उचित नही है। निश्चयपूर्वक तो इतना ही कहा जा सकता है कि असफल हिंसक प्रतिकार से होनेवाली जान-माल की हानि की अपेक्षा अहिंसक प्रतिकार से होनेवाला नुकसान कभी भी कम ही रहेगा।

विदेशी के आक्रमण या चढाई का सामना अहिसा से जिस प्रकार किया जा सकता है उसी प्रकार किसी पडोसी देशी नरेश या लुटेरे के हमले का भी किया जा सकता है। लेकिन—चाहे सुनने मे बात कुछ विपरीत लगे तो भी—पहले की अपेक्षा यह दूसरा काम अधिक मुश्किल है। कारण कि देशी नरेश या लुटेरे की चढाई सैनिक आक्रमण के रूप की होते हुए भी वास्तव मे वह हमारी भीतरी लडाइयो अथवा गुनाहो की कोटि की ही होती है। इस प्रकार की चढाई किस दिन और किस तरफ से होगी, इसका कोई ठिकाना नही होता। यह भी नही कहा जा सकता कि उसकी चेतावनी हमे मिलेगी ही। उसमे शामिल होनेवाले लोग हमारे ही देश के होते है। इस तरह के हुल्लड का यही अर्थ है कि हमारे घर ही मे भीतरी फूट है और हमारे समाज-शरीर में किसी रोग ने घर कर लिया है। यह रोग चाहे निरकुश स्वार्थ-वृत्ति का हो, अत्यन्त दरिद्रता का हो या किसी अन्याय-जनित वैर-वृत्ति का हो, है वह भीतरी रोग ही, बाहरी आघात नही।

आज जो हमारी परिस्थिति है, उसे देखते हुए देशी राज्यो के आक्रमण की चर्चा करना व्यर्थ है। इतना कहना काफी है कि अगर ऐसी परिस्थिति उपस्थित हो जाये, तो विदेशियो का सामना जिन अहिसक उपायो से किया जायेगा, उन्ही अहिसक उपायो का और रियासती जनता अपनी रियासत मे प्रातिनिधिक राजतन्त्र प्राप्त करने के लिए जो उपाय काम मे लायेगी उन सब उपायो का प्रयोग करना होगा।

लुटेरो और डाका डालनेवालो के प्रश्न को दूसरी रीति से हल करना पड़ेगा। व्यवहार्य अहिसा मे यह नही माना गया है कि साधारण पुलिस और उसके साधारण हथियार भी नही रहेगे। इसलिए मोटे तौर पर यह कहा जा सकता है कि पुलिस का ज्यादा प्रबध करना

पड़ेगा । साधारण चोरियो का बन्दोबस्त करने के लिए यह पर्याप्त माना जा सकता है, परन्तु बड़ी-बड़ी शस्त्रधारी टोलियो का मुकाबिला करने में उनका ज्यादा उपयोग न होगा ।

लेकिन, पुलिस के कामो में एक दूसरे तरह के काम का भी समावेश होना चाहिए । पुलिस का असली काम यह होना चाहिए कि अपराधो को होने ही न दे । परन्तु वर्तमान प्रणाली मे पुलिस गुनाहो को रोक नही सकती, सिर्फ गुनाहगारो पर निगरानी रखती है और गुनाहो के हो जाने पर गुनहगार की तलाश करके उसे गिरफ्तार करने और सजा दिलाने की कोशिश करती है । गुनाहों को रोकने के लिए तो उनके कारणो का अध्ययन होना चाहिए और उन्हें हटाने की कोशिश होनी चाहिए : 'क्या भुखमरापन या दूसरे किसी तरह का कष्ट है ? अथवा क्या कानूनी मार्ग से अपना पुरुषार्थ प्रकट करने की सुविधा का अभाव है ? वैर है ? वास्तविक या काल्पनिक अन्याय को दूर कराने में असफल होने के कारण निराशा है ? धार्मिक जनून है ? वश या जाति से सम्बन्ध रखनेवाली कोई लड़ाई है ?'—इन सब बातो की छान-बीन करनी चाहिए ।

परन्तु साधारण पुलिस के कार्यक्रम मे इन बातो का स्थान नही होता । ये तो रचनात्मक कार्यक्रम की धाराएँ है । इस तरफ राजतन्त्र या ग़ैर-सरकारी संस्थाओ ने अबतक पूरा-पूरा ध्यान नही दिया है । इसलिए अराजकता के वक्त कुछ-न-कुछ दण्ड तो भुगतना ही पड़ेगा । धनिक लोग अपनी माल-मिलकियत की रक्षा के लिए पठानों या लठैतो को रखने के बदले अगर रचनात्मक कार्यक्रम को उदारता से सहायता दें और अपने आसामियो, काश्तकारो, मजदूरो, नौकरो तथा ग़रीब लोगों के साथ उदारता का व्यवहार करें और उनके जीवन में अधिक समभाव

से दिलचस्पी लेने लगें, तो यह दण्ड उस अंश में कम हो जायेगा। भलाई का बदला तुरन्त ही भलाई के रूप में नहीं दिखायी देता। खास कर जब भलाई लाभ-हानि का हिसाब करके या भय के कारण की जाती हो, तब उसके तात्कालिक फल-स्वरूप सामनेवाला ज्यादा गुंडा भी हो सकता है। लेकिन उसका यह रुख देर तक टिक नहीं सकता। आखिर में तो न्याय-व्यवहार के फलस्वरूप प्रेममय संबंध ही कायम होते हैं। और व्यवहार्य अहिंसा में अपने तथा पराये लोगों के साथ न्याय-पूर्ण तथा उदार व्यवहार की जरूरत तो है ही।

८

अहिंसक संगठन की सम्भावना और कठिनाइयाँ

अब अहिंसक संगठन की सम्भावना तथा कठिनाइयों पर विचार करें।

इस विषय में हमारे हक में एक बड़ी बात यह है कि कई युगों की आदत से हममें असहयोग का संगठन करने की लगभग जन्म-सिद्ध कुशलता आगयी है। असहयोग का विचार करते समय हम ऐसा आत्म-विश्वास महसूस करते हैं कि वह आला दर्जे की युक्ति है। हमने असह-योग के हथियार का उपयोग बहुत दफा किया है--कभी तलवार के तौर पर, तो कभी ढाल के तौर पर, कभी वैर वृत्ति से, तो कभी सत्याग्रह-वृत्ति से। बहिष्कार की कठोर-से-कठोर रीति के प्रयोग से हमने हरिजनों को कैसे कुचल डाला है, इसका उदाहरण तो आज भी हमारी आँखों के सामने मौजूद है। वह असहयोग का ही एक उग्र रूप है। हरिजनों के खिलाफ इस हथियार का उपयोग करके इतनी सदियाँ गुजर गयी हैं कि किन गुनाहों के लिए उनपर यह शस्त्र चलाया गया था, यह भी आज हम जानते नहीं हैं। सम्भव है कि किसी कारणवश उनका कड़ा बहि-ष्कार किया गया हो और उसके फलस्वरूप उन्हें उनके आज के नीच

माने गये धन्धे ही सर्वनाश से बचने के उपाय प्रतीत हुए हो। अस्पृश्यता तो इस बहिष्कार का सौम्य-से-सौम्य रूप माना जा सकता है। अस्पृश्य व्यक्ति की छाया का भी स्पर्श न हो और वह नजर के सामने भी न आये, इस हदतक वह कही-कही पहुँचा। जिस प्रकार जाति की रूढ़ि के उल्लंघन के लिए कभी-कभी व्यक्तियो या कुटुम्बो को जाति से बाहर कर दिया जाता है, उसी प्रकार अगर यह अहिंसक वृत्ति से किया गया होता, तो जरूरत खत्म हो जाने पर हटा लिया जाता। हमारी अनेक जातियाँ, उपजातियाँ आदि असहयोग के शस्त्र के ही उचित या अनुचित प्रयोग मे से उपजी है।

मुसलमान इस देश मे विजेताओ और धर्मपरिवर्तन करानेवालो के रूप मे आये, तोभी उन्हे हिन्दुओ की असहयोग कायम करने की शक्ति सहन नहीं हुई। जो हिन्दू डर या लाभ के लालच के अधीन हुआ, उसे हिन्दू-समाज ने अपने रास्ते जाने दिया, परन्तु उससे सब तरह का सामाजिक बन्धन तोड़ दिया गया। प्रत्यक्ष हिंसा किये बिना असहयोग की मर्यादा मे रहकर जिस मात्रा मे हो सका, उस मात्रा तक खुद विजेता जातियो को भी समाज से बहिष्कृत रखा गया। राणा प्रतापसिंह और मानसिंह का दुःखपूर्ण झगडा—जिसके कारण अकबर से वर्षों लडाई ठनी—एक तरफ विधर्मी विजेता का सम्पूर्ण बहिष्कार करने की और दूसरी तरफ उससे मेल करने की वृत्तियो के कलह का उदाहरण है। मानसिंह ने अकबर के साथ विवाह-सम्बन्ध किया, इतने ही कारण के लिए जयपुर राज्य से लड़ाई छेड़ने की राणा प्रताप की इच्छा नहीं थी। परन्तु मानसिंह का बहिष्कार करके उसके कृत्य के निषेध का अधिकार प्रताप को था। उस अधिकार का अमल करने का आग्रह उसने दिखलाया। आज की भाषा में यों कह

सकते हैं कि यह हरएक नागरिक के अधिकार की बात हैं । परन्तु राजा लोग कोई नागरिक नही होते। और जब किसी बलवान साथी के खिलाफ किसी अधिकार के उपयोग करने का मौक़ा आता है, तब झगडा हो ही जाता है। इसके अलावा राणा प्रताप अहिंसा का कायल नही था, बल्कि लडाई को क्षात्रधर्म का अग मानता था। इसलिए उनके बहिष्कार मे से रक्तपात और युद्ध पैदा हो गया तो क्या आश्चर्य है ?

परन्तु जहाँ असहयोग का हथियार सामान्य नागरिको ने बरता, वहाँ वह प्रत्यक्ष रक्तपात से मुक्त रहे, इतनी मर्यादा सम्हाली। मुसलमानो और हरिजनो का एक हिस्सा अलग-अलग चुनाव और पाकिस्तान की जो नयी माँग कर रहा है, वह भारी निराशा का परिणाम है। खून-खराबी किये बिना सफल असहयोग करने की हिन्दुओ मे जो सहज शक्ति है, उसके डर का यह परिणाम है। एक व्यक्ति दूसरे से अछूता बनकर रहे, ऐसी समाज-रचना की जरूरत अब नही रही है। अब तो एकत्र होने की जरूरत है । परन्तु पुराने अभिमान, घृणाएँ और सकीर्णताएँ अब भी नष्ट नही होती और इसीलिए एक-दूसरे के साथ उचित सम्बन्ध कायम करने के मार्ग खोजने में बाधाएँ उपस्थित होती हैं। परंतु यह विषयान्तर होगा।

यहाँ यह भी कह देना जरूरी है कि असहयोग की यह बुद्धि जनता ने इस्लाम, ईसाई या सिक्ख आदि धर्मो को अगीकार करने पर भी गँवाई नही है । हरिजनो में तो वह भरपूर है । उलटे यह भी कहा जा सकता है कि पाकिस्तान, अछूतस्तान आदि के आन्दोलन हिन्दू-समाज के अलग-अलग दल (जमाते) बनाने के स्वभाव को अपनाने के लक्षण है। अगर हिन्दूपन का यही आवश्यक लक्षण हो, तो कहना होगा कि अब ये पूरे-पूरे हिन्दू बन गये !

नयी परिस्थिति के अनुकूल बनाने के लिए इस शस्त्र को नये प्रकार से सजाना और बरतना पड़ेगा, यह सच है। अहिंसा के अधिक संशोधित सिद्धान्तों के अनुसार उसे शुद्ध भी करना होगा। यहाँ मेरे कहने का मतलब इतना ही है कि हम इस शस्त्र से परिचित है। और उसके प्रयोग की कला हमें लगभग जन्म से ही विदित है। इसलिए आवश्यक इतना ही है कि इस नीति-शास्त्र के संशोधित सिद्धान्त उपस्थित किये जायें और उसके विधि-निषेध बतलाये जायें। ये बातें समझ में आने पर लोग अपनी स्थानीय परिस्थिति के अनुसार उसके प्रयोग की फुटकर ब्यौरे की बातें अपने आप सोच लेंगे।

हमारे लिए दूसरी एक अनुकूल बात यह है कि हमारा देश कोई एक ऊजड़ भूखण्ड नही है, जिसमें हम विदेशी लोगो की मदद के बिना जी ही न सके। बीसवी सदी के नवीनतम ढगके बड़े-बड़े शहरो की सुविधाएँ और भोग-विलास हमे भले ही नसीब न हो सकें; तो भी साधारण सुविधा से रहना हमारे लि नामुमकिन नही है। हम यूरोप और अमरीका के वेग और चमक-दमक से क़दम नहीं बढा सकें, तो भी स्थिर क़दम से आगे बढते रहने के लिए हमारे देश में काफी कुदरती साधन और मजदूरों तथा बुद्धि का बल है।

यही नही, अगर समभाव और मित्र-भाव से माँग की जाये, तो आज भी अपने देश को मर्यादित वेग से आगे बढाने में हम दूसरे देशो की प्रजाओ की मदद कर सकते हैं। लेकिन वे अपने बडप्पन की डींग मारते हुए, या हिंसा की धमकी देते हुए, मदद पा नहीं सकते। इसके लिए ऐसा बराबरी का सम्बन्ध होना चाहिए कि एक प्रजा दूसरी प्रजा का सहयोग दोनों के हित के लिए चाहे। अहिंसात्मक असहयोग का अर्थ दूसरी प्रजाओं से अलग रहना ही

नहीं है। अलबत्ता दूसरो के साथ स्वाभिमान का सम्बन्ध कायम करने का आग्रह इसमें है। हार मानकर, लाचार होकर, विजेता में विलीन हो जाने से वह इनकार करता है। स्वयपूर्णता का कार्यक्रम जड़ और निश्चल नही है। वह हमेशा बन्द दरवाजोवाला किला नही है।
उसके दरवाजे जरूरत होने पर खोले या बन्द किये जा सकते है।

साधारण रीति से बैल या घोडे की सवारी में यात्रा कर सकें, अँगीठी या चूल्हे पर पानी गरम करके मामूली एकान्त रखकर नहा सकें और दिन में एक बार अखबार मिले, इतने से अगर हम सन्तोष मानने को तैयार हों, तो हम केवल अपने ही परिश्रम से अपने देश की पुनर्रचना करने का विश्वास रख सकते है। परतु वैज्ञानिक सभ्यता का जीवन तेजी से अपनाने की हमारी इच्छा हो, तो हमे पसोपेश में डालनेवाली तरह-तरह की समस्याएँ जरूर खडी होगी। सदियो की कठिन मेहनत से धीरे-धीरे बनी हुई अहिसा-प्रधान सस्कृतिवाला हमारा समाज ही अहिसक रीति से इतनी तेज पुनर्रचना करने मे एक बडी विकट पहेली बन जायेगा।

मेरे शब्दो को कोई गलत न समझे। मै यह नही कहता कि हमे आधुनिक विज्ञान और उसकी मदद से होनेवाली उत्पत्ति, भोग तथा कुदरती साधनों के उपयोग के लिए दरवाजे बन्द कर लेने चाहिएँ। मेरा निवेदन इतना ही है कि कुदरत और यत्रविद्या के ज्ञान की बदौलत जो-जो यान्त्रिक आविष्कार या मजदूरो की सख्या घटाने की युक्तियाँ सूझें, उन सबको जल्दी-से-जल्दी दाखिल करने की धुन हमपर सवार न होनी चाहिए। एक नवीनता दाखिल करने के पहले देखे कि उसका समाज पर क्या असर होता है। और बाद में भी यह परख ले कि उससे लाभ ही हुआ है। उससे उत्पन्न हुई परिस्थिति के अनुरूप हेरफेर कर ले, तब दूसरी

नवीनता लाने का विचार करें। पश्चिम के देश विज्ञान के पीछे ऐसे हाथ धोकर पडे है कि अपने लक्ष्य को पहुँचने के पहले ही गुमराह हो गये है। और ऐसा करने में वे एक-दूसरे से ऐसे उलझ गये हैं कि किसका नियन्त्रण किसपर है, यह निर्णय करना भी कठिन हो गया है। इस अटपटे जाल मे हमारा उलझ जाना जरूरी नही है। सभ्य संसार के विषय में जबतक उनके विचारो में परिवर्तन नहीं होता, तबतक हमारे भरसक दूर रहने में ही भलाई है। उन्नीसवी ही क्या, हमे कोई बारहवी सदी में ही पडे हुए माने तो भी हर्ज नही, उसीसे सन्तोष है। विज्ञान के नये-से-नये आविष्कार के अनुसार सिनेमा के चलचित्र के समान बदलनेवाले भोगमय परन्तु उलझे हुए और हिंसक जीवन की अपेक्षा हमे पूरी खुराक, कपडा और घर मिलता रहे, तो वह सादी और नीरोग तथा मेहनती लम्बी आयु हमें विशेष श्रेयस्कर मालूम होगी।

६
कठिनाइयाँ

ऊपर लिखी अनुकूलताएँ जहाँ है, वहाँ कुछ प्रतिकूल परिस्थितियाँ भी हैं, उनका भी विचार करना चाहिए।

बहुत बडी जन-सख्या भी अपने-आपमे कई असुविधाएँ पैदा करती है। अखबारो से पता चलता है कि जिन छोटी-छोटी और बहुत सभ्य जातियो को हिटलर ने परास्त किया, उनमें भी देशद्रोही लोगो का बिलकुल अभाव नही था। किसी का यह खयाल हो सकता है कि जिनकी हालत बहुत बुरी है या जो बेकार है, ऐसे लोग ही देशद्रोही होते होगे। परन्तु बदकिस्मती से बहुधा यह दुर्गुण नेता समझे जानेवाले लोगों में भी पाया करता है। हमारे जैसे विशाल देश में तो अलग-अलग विचारों और आदर्शों को माननेवाले कितने ही पक्ष हैं तथा

परस्पर अविश्वास और सत्ता तथा नौकरी का लोभ भी है। तब अहिंसक संगठन का प्रयत्न भला निर्विघ्न कैसे हो सकता है ?

परन्तु ये पक्ष तथा वर्ग तो आखिर हिंसा पर विश्वास करनेवाले है। इसलिए वे अगर अहिंसक रचना करनेवालो के प्रयत्न को निष्फल करना चाहे तो कोई आश्चर्य नही है। उनकी तो हमें पहले से ही गिनती कर लेनी चाहिए। परन्तु इससे भी बढ़कर विघ्न उन लोगों की ओर से होता है, जो खुद तो हथियार उठाते नही हैं मगर अपने निजी या अपने पक्ष के लाभ के लिए हिंसावादियो से सहयोग करते है और अहिंसा की शर्तें पालन नही करते।

उसी प्रकार अहिंसा मे विश्वास करते हुए भी जिन लोगो की अपना अलग अड्डा करने की वृत्ति है, वे भी कई गुत्थियाँ उपस्थित करते है। इनकी असहयोग और स्वतन्त्र विचार करने की वृत्ति इतनी अधिक तीव्र होती है कि वे अपने जैसे उद्देश्यो को माननेवाले लोगो के साथ भी पूरा-पूरा सहयोग नही कर सकते। परन्तु हिंसक समाज की तरह अहिंसक समाज के लिए भी यह जरूरी है कि एक तरफ के लोग एक दिल से ही काम करे। भूले तो होगी। लेकिन भूलो का नतीजा इतना ही होगा कि मेहनत थोडी ज्यादा करनी पड़ेगी और सफलता मे थोडी ढिलाई होगी। परन्तु दगाबाजी, साजिशें, बुद्धिभेद और झगडे-टण्टे तो सफलता को अशक्य ही कर देते है और कभी-कभी तो जीत को भी हार में बदल देते है।

देश के हम दो भाग मानें एक वे जो हिंसा की नीव पर देश का संगठन करना चाहते है, और दूसरे वे जो कि सिद्धान्तरूप से अथवा एक अनिवार्य संयोग के रूप में अहिंसा को स्वीकार कर उसकी बुनियाद पर देश का संगठन करना चाहते है। दोनो के अपने-अपने खास नियम, निष्ठाएँ और कार्यक्रम होगे। उनके अमल में जितना कच्चापन रहेगा,

उतने अंश में मुसीबतों और हार की सम्भावना अधिक होगी।

जब किसी बलवान विपक्षी का सामना करने के लिए सगठित होना हो, तब कुछ कड़ी शर्तें लगाने की, कुछ त्याग करने की, कुछ व्यक्तिगत उद्देश्यो को गौण मानने की और कुछ स्वतन्त्रता छोडने की भी जरूरत होती है। हिंसक सगठन में इन बातो मे आवश्यक आज्ञापालन कराने के लिए बलात्कार (दण्ड, सजा) करने का अधिकार दिया जाता है। अहिंसा में अधिक-से-अधिक इतना ही दण्ड दिया जा सकता है कि आज्ञा न माननेवाले को सस्था में से निकाल दिया जाये। लेकिन वैसा करने से मुश्किले दूर नही होती। कांग्रेस ने जहाँ-जहाँ यह कार्रवाई की, वहाँ जो कुछ हुआ उस से यह भी कहा जा सकता है कि इससे मुश्किले बढ भी सकती है। इसलिए अगर यह उपाय करना ही पडे, तो याद रखना चाहिए कि वह अपने ही शरीर का एक अवयव काटने के समान है। और उस अश मे सस्था के लिए वह एक आपत्ति का ही प्रसग है। इसलिए आज्ञाभग करनेवाले की बुद्धि और उच्च भावनाओ को जाग्रत करने के सब प्रयत्न निष्फल हो और उसकी उपेक्षा करने मे जोखिम हो, तभी इस उपाय से काम लेना चाहिए। इसलिए जो लोग अहिंसात्मक प्रतिकार सफल करना चाहते है, उन्हे सभी महत्त्व की राष्ट्रीय बातो मे खुद पसन्द किये हुए नेताओ की इस छोटी-सी मण्डली की आज्ञा मानने को तैयार रहना चाहिए। लोगो को एक ही वस्तु के विषय में पूरा निश्चय कर लेना चाहिए। वह यह कि नेता व्यवहार-कुशल, चारित्र्यवान् और प्रामाणिक है और उनकी देशभक्ति शंकातीत है।

ऐसी आज्ञाधीनता आवश्यक ही है। परन्तु उसे चरितार्थ करना बहुत मुश्किल भी है। हममें स्वभाव से ही जो असहयोग-वृत्ति है, उसकी बदौलत खुल्लमखुल्ला आज्ञाभग न करते हुए भी आड़े-टेढ़े

तरीके से विघ्न करने की नीति काम मे लायी जा सकती है। उनकी आज्ञा के खिलाफ आवाज नही उठायी जायेगी; आज्ञा पालने से इनकार नहीं किया जायेगा, अहिसा के नेताओ और अनुयायियो को किसी तरह सताया भी नही जायेगा। परन्तु उनकी सलाह तथा सूचनाओ पर ध्यान ही नही दिया जायेगा तो मामला खतम है। 'तुम बकते हो, हम सुनते हैं'—इस असहयोग से हम लोग खूब अच्छी तरह वाकिफ हे। स्थानिक-स्वराज सस्थाओ को और रचनात्मक कार्यकर्त्ताओ को जनता के ऐसे क्रियाहीन असहयोग का खासा अनुभव होता है।

यह सिर्फ अज्ञान, निरक्षरता या आलस की बदौलत नही होता। जान-बूझकर भी किया जाता है। सार्वजनिक सस्थाओ के कार्य के प्रति अपनी अरुचि बताने का यह एक तरीका है। बिजली के लिए रबड की परतो मे से निकल जाना जितना सरल है, उतना लोगो का यह असहयोग भी हो, तो अहिसक सगठन करना आसान नही है।

परन्तु इन कठिनाइयो का मामना तो करना ही पडेगा।

१०

हिंसक और अहिंसक लड़ाई के सामान्य अंग

हिसक तथा अहिसक लडाई मे कुछ अग समानरूप से जरूरी हे, उदाहरण के लिए :—

लड़ाई की तीव्रता और क्षेत्र के विस्तार के अनुपात मे दोनो में समाज के नित्य जीवन मे थोडे-बहुत अश मे अव्यवस्था, असुविधा, तंगी सगेसम्बधियो से वियोग, फिजूल खर्च, औद्योगिक नुकसान, नफे मे कमी, राजी-खुशी के या क़ानूनी टैक्स, जानमाल की जोखिम, काम का अधिक बोझ, जिनकी आदत न हो, ऐसे फर्ज अदा करना—इत्यादि सहना पडता है।

इसके अलावा मृत्यु, यन्त्रणाएँ, मूल्यवान सपत्ति का नाश या अपहरण और स्त्रियो पर अत्याचार आदि संकटो का सामना भी हिंसक और अहिंसक दोनो प्रजाओ को करना पड़ता है ।

परन्तु, जरा विचार करने पर समझ मे आ जाता है कि जहाँ दोनो ओर से हिंसा का प्रयोग होता हो, उसकी अपेक्षा जहाँ एक ही ओर से हिसा का प्रयोग हो रहा हो और दूसरी तरफ से अहिंसक प्रतिकार होता हो, वहाँ इन सारे खतरो का अनुपात उभय पक्ष मे कम हो जाता है। जब आक्रमणकारी यह जानता हो कि विपक्षी के पास लडने के लिए बन्दूकें भी नही है, तो उसे उतने ही टैंक, जगी हवाई जहाज, बेडे, बम वगैरा बनवाने या लाने पडेगे जितनों की वह अहिंसक प्रजा पर आतंक जमाने के लिए जरूरत महसूस करता हो। हिंसा के साधनो से अरक्षित प्रजा का वह समूल सहार कराना चाहे और वह सहार अपनी आंखो से देखने की व्याकुलता टालने के लिए अपने शिकार के सामने न आना चाहे, तोभी जिस मात्रा मे आज उसे यान्त्रिक सेना का उपयोग करना पड़ता है, उतना नही करना पडेगा। हिन्दुस्तान तथा अमेरिका की जगली जातियो की जो स्थिति हुई है, वही गति अहिंसक प्रजा की कर दी जायेगी, यह आशका हो सकती है । परन्तु निष्फल हिंसक विरोध की अपेक्षा अहिंसक विरोध से क्या हमारी ज्यादा दुर्दशा हो सकती है ? हिंसा से विजय पाने के लिए तुम्हे शत्रु की अपेक्षा अधिक भयकर हिंसा करनी चाहिए, अधकचरी या निष्फल हिंसा से कुछ नही बन आयेगा। अहिसा अगर सफल हो गयी, तो मानव-परिवार की एक दूसरी शाखा के साथ तुम्हारा शान्ति तथा प्रेम का सम्बन्ध कायम होगा। और अगर उसका कोई असर न हुआ और आधे रास्ते में ही तुम हिम्मत हार गये, तोभी १९१८ ई० में जर्मनी की

या १९४० ई० मे फ्रास की जो दुर्गति हुई, उससे बदतर तुम्हारा हाल नही होगा।

मतलब यह कि अहिसक लडाई मे भी हिसक लडाई की तरह जोखिम तो उठानी ही पडती है। हिसा मे सामनेवाले को हराने के लिए क्रूर बहादुरी की जरूरत होती है। अहिसा मे बिना हाथ उठाये जोखिम का सामना करने की शान्त बहादुरी की जरूरत होती है। शस्त्रधारी सिपाही की क्रूर बहादुरी के पीछे हो सका तो लडाई की जोखिमो से बच जाने की वृत्ति होती है। यह वृत्ति केवल आत्मरक्षण या जान बचाने की ही नही होती, मारक और आत्मरक्षक दोनो तरह की होती है। शान्त बहादुरी में जोखिम से भागने का तो प्रयत्न ही नही होगा। इसलिए बचने की वृत्ति का सवाल ही नही है। और मारक वृत्ति तो हरगिज हो ही नही सकती। मध्ययुग मे अपनी निर्दोषता सिद्ध करने के लिए जिस प्रकार की अग्नि-परीक्षाएँ—जैसे कि तपे हुए लोहे का गोला उठाना आदि—ली जाती थीं, उनसे इस प्रसग की उपमा दी जा सकती है।

इसके अलावा लडाई की तैयारी के रूप और लडाई के दौरान मे भी हिसा और अहिसा दोनो मे वेगवान रचनात्मक कार्यक्रम की एक-सी जरूरत होती है। जैसा कि विनोबाजी ने अपने एक लेख में कहा है—

"यूरोप की लडाई हिसक साधनो से हिसक उद्देश्यो की पूर्ति के लिए हो रही है। हमारी लडाई अहिसक साधनो से अहिसक उद्देश्यो की पूर्ति के लिए होगी। इन दोनो में यह बहुत बडा अन्तर होते हुए भी उस हिसक लडाई से हम कई बातें सीख सकते है। लडाई के साधन चाहे जैसे क्यो न हो, आजकल का युद्ध सामुदायिक तथा सर्वांगीण सहयोग का एक जबर्दस्त प्रयत्न होता है। यद्यपि इस प्रयत्न का फलित

विध्वसक होता है, और यद्यपि यह भी मान लिया जाये कि उसका उद्देश्य भी विध्सक होता है, तथापि यह प्रयत्न स्वय प्राय: सारा-का-सारा विधायक ही होता है। कहते है कि जर्मनी ने सत्तर लाख फौज खडी की है। आठ करोड के राष्ट्र का इतनी बडी फ़ौज खडी करना, उतने बडे पैमाने पर लड़ाई के हथियार, औज़ार तथा साधन-सामग्री प्रस्तुत करना, चुने हुए लोग फौज में भरती करने के बाद बाकी के लोगो द्वारा राष्ट्रीय ससार चलाना, सम्पत्ति की धारा अव्याहत गति से प्रवाहित रखने के लिए औद्योगिक योजनाएँ यथासम्भव अखड जारी रखना, तमाम पाठशालाएँ आदि बन्द करना, नित्य की जीवन-सामग्री के व्यक्तिगत स्वामित्व के अधिकार पर सरकारी कब्जा जमा लेना, जिस प्रकार विश्वरूप-दर्शन मे आँख, कान, हाथ, पैर, सिर, मुँह अनन्त होते हुए भी हृदय एक ही दिखाया गया है, उसी प्रकार, मानो सारे राष्ट्र का हृदय एक करना---यह सब इतना विशाल और इतना सर्वतो-मुख विधायक कार्यक्रम है कि उसके सहारप्रवण होते हुए भी हम उससे बहुत कुछ सीख सकते है।"

११
अहिंसा की शर्ते

अब अहिसक सगठन की शर्तो का विचार करे।

इसका विचार करते हुए साधारण मनुष्य मे जितनी अहिंसा या हृदय की उदारता होती है, उससे अधिक की उम्मीद मैंने नहीं की है। जैसा कि पहले अहिसा की व्याख्या करते हुए कहा जा चुका। व्यवहार्य अहिसा में हिसा का अभाव और उदारता की ओर झुकाव या रुख होता है। इसमें स्वार्थ-वृत्ति का सम्पूर्ण अभाव नहीं है। परन्तु न्यायी स्वार्थ-बुद्धि है।

मतलब यह कि जनता को नीचे लिखी बातें अच्छी तरह समझ लेनी चाहिएँ :—

१. हर परिस्थिति मे—गुस्से के लिए चाहे कितना ही बड़ा कारण क्यों न उत्पन्न हुआ हो या हिंसा करने या चोट पहुँचाने की कितनी ही अनुकूलता क्यो न हो, उसे हिंसा मे परहेज ही रखना चाहिए।

२ विरोधी ने चाहे कितना ही खराब और दुष्टता का बर्ताव क्यो न किया हो, तोभी उसका बदला लेने की या बदला लिया जायेगा ऐसी उम्मीद नही करनी चाहिए। उसे अपनी उदारता बताने को तैयार रहना चाहिए और नेता हमेशा उदारता दिखायेंगे ही, ऐसा मान लेना चाहिए।

३ सफलता मिलने पर भी किसी प्रकार के अनुचित लाभ उठाने की इच्छा नही रखनी चाहिए।

४ अगर ऐसे अनुचित लाभ या हक प्राप्त हुए हो जो विरोधी के साथ या जनता के किसी वर्ग के साथ अन्याय करनेवाले हो तो उन्हे छोडने के लिए तैयार हो जाना चाहिए।

५ जिनकी स्थिति अच्छी हो, उन्हे अपनी दौलत अपने से कमनसीब लोगो के साथ बाँटकर भोगनी चाहिए। दलित और बेकार जनता के लाभ के सारे कार्यक्रमो को उन्हे उदारता से बढ़ाना चाहिए।

६. जिस तरह का असहयोग जमानो से हमारे देश मे चलता आया है, उसमें और जिस तरह का अहिंसात्मक असहयोग आज हमारे सामने पेश किया गया है उसमे जो अन्तर है, वह भी लोगो को समझ लेना चाहिए। रूढ़ असहयोग मे शरीर पर प्रत्यक्ष प्रहार किये बिना विरोधी की जितनी हिंसा की जा सके, उतनी की जाती थी। उसमें विरोधी के प्रति प्रेम, करुणा, उदारता जैसी भावनाएँ नही थी। सख्त दण्ड दिये बिना अथवा उसे नीचा दिखाकर झुकाये बिना, उसके खिलाफ असहयोग

बन्द नही किया जा सकता था। विरोधी हमारा टेढ़े रास्ते गया हुआ भाई है और उसे हमे फिर-से सही रास्ते पर लाना चाहिए, यह भावना उसमें नही थी। बल्कि यही भावना थी कि वह हमारा दुश्मन है और उसे कुचल डालना चाहिए। अहिसात्मक असहयोग में विरोधी की तरफ़ कुछ दूसरी निगाह से देखना होता है। यह कभी नहीं भूलना चाहिए कि अहिंसात्मक लडाई का मकसद प्रतिपक्षी को कड़ी हार देना या उसपर सोलह आने विजय पाना नही है; वरन्, जिसमे दोनो के आत्म-गौरव की रक्षा हो, इस प्रकार की स्थायी सुलह स्थापित करना है। इसमें पुश्त-दर-पुश्त चलनेवाली अदावत कायम करने की वृत्ति नहीं होती। बल्कि उचित परिस्थिति उत्पन्न होते ही उस असहयोग को ख़त्म करने देने की मन्शा होती है। असहयोग की मात्रा भी परि स्थिति की ज़रूरत के अनुसार बढ़ायी या घटायी जाती है।

७ जैसा कि पहले कहा जा चुका है लोगो को अहिंसात्मक प्रतिकार में रही हुई सलामती के बारे में गलत कल्पनाएँ नही करनी चाहिएँ। युद्ध की सारी जोखिमे इसमें भी है। लेकिन वैर या बदला लिया गया, ऐसी बडाई मारने का सतोष प्राप्त करने की आशा इसमें किसी क़दर नही है। गम्भीर धीरज और दृढता से अग्नि-परीक्षा देने की लोगो की तैयारी होनी चाहिए।

८. लोगो को अपने नेताओ पर पूरा-पूरा भरोसा रखना चाहिए। नेताओ को पसन्द न आये, ऐसा कोई समझौता उन्हे स्वीकार नही करना चाहिए और न किसी दूसरे की सलाह से उनके सुझाये हुए कार्यक्रम में हेर-फेर ही करना चाहिए। उनको अपने नेताओ में यह विश्वास होना चाहिए कि न तो वे देश को किसी के हाथ बेचकर बरबाद करनेवाले हैं, और न जनता को जरूरत से ज्यादा तकलीफ या जोखिम में डालनेवाले।

१२
संचालकों की योग्यता

इतना तो हुआ सामान्य जनता के समझने के लिए।

परन्तु जब देशव्यापी सगठन करना हो, तब प्रातीय और स्थानीय नेताओ और कार्यकर्ताओ का भी एक खासा समूह होना चाहिए। देश के नेताओं द्वारा ठहरायी गयी राष्ट्रनीति और अहिसात्मक लडाई के सिद्धान्त उन्हे अच्छी तरह समझने और हजम करने चाहिएँ। यही नही, वरन् जनता को वे बातें समझाना और स्थानीय परिस्थिति के अनुसार उन्हे लागू करने मे खूब शक्ति भी दिखानी चाहिए। गाधीजी का 'बलवान की अहिसा' वाला सूत्र खासकर उनपर लागू है। मेरी समझ मे उसका अर्थ यह है कि जो ऐसा मानते है कि हमारे पास हथियार और दूसरे साधन नहीं है, इसलिए हमे अहिसा का उपाय ग्रहण करना पड़ता है, उन्हे इस आन्दोलन के समझाने का या मार्गदर्शन, सगठन या नियत्रण का भार अपने ऊपर नही लेना चाहिए। इस आन्दोलन का सचालन उन्ही व्यक्तियो द्वारा होना चाहिए, जिनका विश्वास है कि अहिंसा हिसा की बनिस्बत केवल नैतिक दृष्टि से ही नही वरन् व्यावहारिक दृष्टि से भी बढ़िया है और वह न सिर्फ हमारे ही लिये, बल्कि जो देश सिर से पैर तक नये-से-नये हथियारो से लैस है, उनके लिये भी है। और यह कि कमजोरी, आत्म-विश्वास का अभाव तथा लाचारी से अहिसा की नही, बल्कि हिंसा की वृत्ति उसी तरह पैदा होती है, जैसे कि कोरी खुदगरजी द्वेष से।

सुनने में बात कुछ अटपटी भले ही लगे, तोभी सच यह है कि डर से भरा मनुष्य हमेशा शरण ही नही लेता, बल्कि जनूनी (उन्मत्त) लड़ाका भी बन जाता है। जब उसके अपने या उसके बच्चो की जान का खतरा

हो, तब बिल्ली म कितना जनून पैदा हो जाता है, सो हम जानते है। फिर यह भी नही कि सिर्फ कायर ही शरण चाहते हो। वीरों को भी शरण में जाने की नौबत आती है। लडाई के शुरु मे तो हरएक प्रजा यही कहती है कि जबतक हमारा एक भी आदमी जिन्दा है, तब-तक हम बराबर लडते रहेगे। हम मरेगे, लेकिन झुकेंगे नही। परन्तु राजस्थान के इतिहास के थोड़े-से उदाहरण छोड़ दिये जाय, तो दुनिया की तवारीख मे अक्षरश इस प्रकार के कितने उदाहरण पाये जायेगे? हाँ, हरएक देश और युग मे मुट्ठी-भर ऐसे वीर तो पैदा होते ही रहेगे, जो बदनामी से जीना कभी पसन्द नही करते। परन्तु सारी सेना या प्रजा के नाम पर ऐसी वीरता आम तौर पर पायी नही जाती। सेनापति और सिपाही स्वाभिमान के लिए लडते तो है। उसके लिए कुछ दिन तक अपना सारा तन, मन, धन जोखिम में भी डालते हैं। और यह भी हो सकता है कि उसे बचाने की कोशिश करने पर भी उसकी आहुति हो जाये। परन्तु सारी आशा नष्ट हो जाने पर भी स्वाभिमान के लिए जान देनेवाले लोगो की सख्या बहुत बडी नही होती। ज्यादातर लोगो मे स्वाभिमान की अपेक्षा जीने की तृष्णा अधिक बलवान होती है। और न हमेशा यह भी देखा गया है कि जो बहादुरी के लिए मशहूर हैं; ऐसे जुझारू वृत्ति के लोग भी स्वाभिमान के बिना जीना पसन्द ही नही करते। 'सिर सलामत तो पगडी पचास'वाली कहावत में बहुतेरे आदमियों का विश्वास होता है और इसलिए दरअसल मर जाने की बनिस्बत बदनामी से और कमरतोड मेहनत मशक्कत करके भी जिन्दगी निबाह लेना ही वे पसन्द करते है।

मतलब यह कि ऐसा मानने के लिए कोई सबूत नही है कि जान-बूझकर निहत्था रहकर मरने का निश्चय करनेवाले वीर की अपेक्षा

शस्त्रधारी मनुष्य का उसी प्रकार का निश्चय अधिक बलवान होगा। लेकिन जिसे इसके बारे मे शक हो, उसे अहिसक लडाई का अगुआ नही बनना चाहिए। बाहर सुरक्षित अन्तर पर रहकर वह उदारता से दूसरी मदद देता रहे, तो उससे भी वह आन्दोलन और प्रजा की अधिक सेवा कर सकेगा।

दूसरे, स्थानीय नेता और कार्यकर्त्ता अगर लोगो के प्रेम और इज्जत के पात्र न हो, तो वह आन्दोलन लोकप्रिय नही हो सकता।

वे अप्रिय और प्रतिष्ठाहीन दो कारणो से हो सकते है :—

लोगो का उनमें यह विश्वास नही कि वे नि स्वार्थ, सच्चे और अपने पक्ष से बेईमानी न करेगे। अथवा सरकारी अधिकारियो या सन्यासियो की तरह वे लोगो से अलग और दूर रहते है; उनके साथ मिल-जुल कर नही। इसके कारण उनके और जनता के बीच एक गहरी खाई पैदा हो जाती है और ऐसा हो जाता है कि मानो दोनो अपनी-अपनी जुदी-जुदी दुनियाओ मे रहते हो। कार्यकर्ता जनता की कम-जोरियो को जानते तो है, लेकिन उसकी झझटो, हौसो और भावनाओ की वे कदर नही कर सकते। राष्ट्रीय आन्दोलन से जनता के मूक अस-हयोग का कारण कई बार कार्यकर्ता और जनता के बीच पड़ा हुआ फासला ही होता है। जाहिर है कि जबतक जनता के विश्वास का पात्र न बन सकनेवाला पहला वर्ग दूर नही होगा और जनता से अलग रहनेवाला दूसरा वर्ग अपने बर्ताव में उचित सुधार करके जनता के नजदीक नही आयेगा, तबतक अहिसा का सन्तोष-कारक सगठन नहीं हो सकेगा।

तीसरे, व्यवहार्य अहिसा तथा अहिसात्मक लडाई के क्या माने है यह अगर अच्छी तरह समझ लिया जाय, तो काग्रेस की रचनात्मक

प्रवृत्तियों को पक्की बुनियाद पर रखने और तेजी से चलाने का महत्त्व समझने में मुश्किल नहीं होगी। जनता में स्वावलम्बन का आग्रह, आत्म-विश्वास का बल और राष्ट्र के अन्दर छिपी हुई आत्मशक्ति का भान जाग्रत करना है। अलग-अलग कौमों में इस प्रकार की एकता कायम करनी है कि जिससे वे एक ही शरीर के जुदे-जुदे अवयवों की तरह एक-दूसरे से जुड़ी रहें। समानता, न्याय और मेल-मिलाप की बुनियाद पर उनके आपसी सम्बन्ध मजबूत करने हैं। कही भी बडप्पन या छोटेपन का खयाल न रहने पाये। न तो जनता में गुण्डेपन से डरने या स्वाभिमान-शून्य आजिजी करने की आदत रहनी चाहिए न दूसरो को झुकाने का बदमिजाज या लाचार होकर अपमान सहलेने की वृत्ति रहनी चाहिए, और न दम्भ, धोखेबाजी या खुशामदी वृत्ति ही रहनी चाहिए। और यह सब तालीम बिना जबरदस्ती किये देनी है। सिर्फ कवायद में ही नहीं, परन्तु अधिकारी व्यक्तियो के साथ सभी तरह के व्यवहार में सीना तानकर खडे होने की हिम्मत लोगों में आनी चाहिए—मगर बिना अपनी शराफत छोडे। दलित, भूखे, परित्यक्त और बुरे रास्ते पर चलनेवालों से भी भाईचारा कायम करना है। धनवानो को समाज के हित के लिए अपने भण्डार खोलना सिखाना है। यह सब तभी हो सकता है, जबकि रचनात्मक कार्यक्रम को तेजी से चलाया जाये और धनी नेता और कार्यकर्ता खुद त्याग, सादगी और हाथ खोलकर दान करने की मिसाल पेश करें।

चरखा चलाना तो रचनात्मक कार्यक्रम को गति देने की कार्यकर्ता की लगन का एक पहला क़दम-सा है। नेताओं और कार्यकर्ताओं के लिए वह स्वराज्य की कीमत का उनका पूरा हिस्सा नही है—सिर्फ बानगी है। रचनात्मक कार्यक्रम की जुदी-जुदी विगतों का प्रचार तथा

सुधार करते रहकर उन्हें बाकी की कीमत चुकानी है। स्वराज का अर्थ सिर्फ विदेशी सत्ता और हमारे सम्बन्धो का आखिरी फैसला करना ही नहीं है, वरन् देश के जुदे-जुदे राज्य, प्रान्त, कौमो तथा सस्कृति, भाषा, समाज-रचना और आर्थिक हितों के कारण अलग-अलग वर्गों में बँटे हुए लोगो के साथ हमारा अपना तथा उनका आपस का सम्बन्ध ठीक करना भी है। इतने पर भी जो स्वराज और रचनात्मक कार्यक्रम का सम्बन्ध न समझ सकते हो, उन्हे कम-से-कम ऐसा स्थान स्वीकार करना चाहिए, जिससे वे प्रगति को रोकनेवाले ब्रेक न बन जाये।

१२
सर्वोपरि मण्डल

अब जनता के सर्वोपरि मण्डल के स्वरूप और कर्तव्यो के बारे में थोडा विचार करता हूँ।

अगर हिन्दुस्तान को एक स्वतन्त्र और अपने अहिंसात्मक राज्य तथा समाज-रचना के द्वारा जगत को पदार्थ-पाठ देनेवाला देश बनाना हो, तो हमे ऐसी स्थिति को पहुँचना चाहिए, जिसमें प्रजा-हित की हरएक बात मे आखिरी मार्गदर्शन कराने का अधिकार किसी एक सर्वोपरि सत्ता को दिया हुआ हो। उसका स्थान मनु, मूसा या मुहम्मद के समान होना चाहिए। यह सर्वोपरि सत्ता जनता के किसी एक ही सर्वमान्य नेता के हाथो मे है या सम्पूर्ण सहयोग से काम करनेवाले किसी छोटे-से मण्डल को सौंपी गयी है—यह बहुत महत्त्व की बात नहीं है। अगर उस नेता या नेता-मण्डल ने अहिंसा को अपनाया है और अगर जनता के प्रेम और आदर पर ही उसकी सत्ता की डोरियाँ हिलगी हुई है, तो विश्वास किया जा सकता है कि वह नेता या नेता-मण्डल जान-बूझकर लोगो का अहित नही करेगा।

इस सर्वोपरि सत्ता की तरफ से कार्य के बारे में जो-जो सूचनाएँ निकले, उनपर लोगो को बिना हेर-फेर किये विश्वास और उत्साह से अमल करना चाहिए। फौजी तन्त्र मे 'ऐसा क्यो ?' पूछने का भी अधिकार नही होता। अहिंसक तन्त्र में एक हदतक 'ऐसा क्यों ?' सवाल किया जा सकता है। लेकिन जब अगुआ विनती करे कि मेहरबानी करके अब सवाल पूछना बस कीजिए, तो प्रश्न बन्द करने चाहिएँ और अमल शुरू करना चाहिए। अहिंसक नेता जबरदस्ती कुछ नही करा सकता। इसलिए आमतौर पर वह अपनी सूचनाओ के मूलभूत (बुनियादी) कारण भरसक स्पष्टता से समझाने की कोशिश करेगा ही।

मै समझता हूँ कि कोई भी व्यक्ति या मण्डल लगभग सारी प्रजा के सर्वोपरि पद पर तभी पहुँच सकता है, जबकि सभी महत्त्व की कौमो, जातियो और वर्गों के आन्दोलन करनेवाले मण्डलो के बहुत भारी बहुमत का विश्वास उसे मिला हो। सम्भव है कि आन्दोलन करनेवाली एक सस्था जिस जाति या वर्ग के लिए बोलने का दावा करती हो, उसके भी बहुत बडे हिस्से के सच्चे हितों की हिफाजत दरअसल वह न करती हो। लेकिन, फिर भी, वह अपने आदमियो मे और दूसरे लोगो मे शका, ना-समझी, बुद्धि-भेद और अस्पष्ट विचार पैदा करने के लायक ताक़त कमा लेती है। इसलिए या तो प्रामाणिक विरोधी से समझौता करने की पूरी-पूरी कोशिश करनी चाहिए या फिर उस मण्डल की अप्रामाणिकता इतनी खुल जानी चाहिए कि जिससे उसकी जाति के और दूसरे लोगो में भी उसकी कोई वकत न रहे।

१४

संगठन की जरूरत

संगठित प्रयत्नों की जरूरत विस्तार के साथ समझाने की आवश्य-

कता नहीं होनी चाहिए। लेकिन कुछ लोगों का यह खयाल है कि "अहिंसा में सगठन से ज्यादा फायदा नही होता—खासकर तब जबकि उसका हेतु हिंसा का विरोध करना हो; क्योंकि बहादुरी एक व्यक्ति का स्वाभाविक तेज है और चाहे वह व्यक्ति अकेला हो या एक झुण्ड में हो, उसका वह तेज प्रकट हुए बिना नही रहेगा। लेकिन डरपोकपन एक मनुष्य में रहा हुआ अँधेरा है, इसलिए कई डरपोक आदमियों की बनी हुई टोली में कुल मिलाकर घना अँधेरा ही होगा। इसलिए सगठित करने का प्रयत्न न करने मे ही अहिंसा का अच्छे-से-अच्छा सगठन होता है।" यह भी कहा जाता है कि "सगठन केन्द्रीकरण (सेन्ट्रलाइज़ेशन) की ओर झुक जाता है, और उसका रुख हिंसा की ही तरफ़ होना है। इसलिए सगठन का झुकाव हिंसा की ओर होता है और असगठन का अहिंसा की ओर।"

मेरे नम्र मत से ये सब विधान वाजिब से ज्यादा व्यापक भाषा में पेश किये गये है। बहादुरी और कायरता, ताक़त और कमजोरी छूत के रोग जैसे हैं। यह हो सकता है कि दो जनो में अकेले जोखिम में उतरने की हिम्मत न हो। यदि वे दोनो अपने अपने डर की पोटलियाँ लेकर ही जोखिम के मौके पर इकट्ठे हो और अपने साथी में जा कुछ साहस-वृत्ति हो, उसे घटाने में ही उसका उपयोग करें, तो इन दोनो के सगठन से उपजी हुई कायरता उनकी हरएक की कायरता से भी बढ़ सकती है। लेकिन अगर हरएक का हेतु जोखिम का सामना करने में एक-दूसरे से ताक़त हासिल करना हो, तो उनके सगठन से कमजोरी घटेगी और ताक़त बढ़ेगी। मतलब यह कि उचित वृत्ति से और अच्छी तरह किये हुए संगठन में हरएक सदस्य की व्यक्तिगत शक्तियों के जोड़ की बनिस्बत ज्यादा शक्ति पैदा होनी चाहिए।

फिर केन्द्रीकरण (सेन्ट्रलाइजेशन) और विकेन्द्रीकरण (डिसेन्ट्रलाइ-जेशन) के सिद्धान्त में से किसी एक ही को अपने में पूरा उसूल मान लेना भूल है। हरएक में कुछ फ़ायदा है और कुछ नुक़सान। न तो हमें केन्द्रीकरण की भव्यता से चौंधियाना चाहिए और न विकेन्द्रीकरण की सादगी पर रीझ जाना चाहिए। केन्द्रीकरण और विकेन्द्रीकरण के आखिरी सिरे छोड़कर, जिस परिस्थिति का सामना करना हो, उस परिस्थिति में जनता के लिए ज्यादा-से-ज्यादा हितकर क्या होगा, इस दृष्टि से जीवन के क्षेत्र में और हरएक कदम पर इन दोनो का उचित मिलाप कहाँ करना चाहिए, इसकी खोज करके उनमें उचित फेर-बदल करने चाहिएँ। व्यवहार्य अहिंसा मे स्वार्थ-वृत्ति का सम्पूर्ण अभाव नही है। इतना ही कि वह अन्यायी नही है। और इसलिए वह शुद्ध अहिंसा अथवा अति भलाई के नाम के लायक नही है। लेकिन उस तरफ को झुकती है, इतना ही। वही बात अहिंसक सगठन की भी है। केन्द्रीकरण और विकेन्द्रीकरण का उचित मिलाप करने की हमेशा कोशिश करते रहना होगा। यह मिलाप हरएक जगह और हरएक समय पर अलग-अलग तरह का होगा। परन्तु, जब-कभी किसी ध्येय को सिद्ध करने के लिए कोई जोरदार काम करना हो, तब संगठन के बिना काम ही नही चलेगा। कुछ बातों में उसका संचालन और नियन्त्रण केन्द्र से करना पड़ेगा। कुछ बातों में हरएक शाखा का मार्ग स्वतन्त्र होगा।

१५
छोटे-से-छोटा संगठन

इसपर से हिन्दुस्तान में छोटे-से-छोटे संगठन के स्वरूप और कार्य-क्षेत्र के विचार पर आता हूँ। इसकी निस्बत मैं यहाँ जो विचार रख रहा हूँ, उन्हें कोई मेरे आखिरी और पके हुए विचार न माने। इस समय मेरे

जो विचार है, उन्हींको प्रकट कर रहा हूँ, उनमें हेर-फेर होने की पूरी सम्भावना है।

कई कारणो से मेरा ऐसा मत बनता जा रहा है कि आम तौर पर एक-एक गाँव को सगठन या पञ्चायत का छोटे-से-छोटा क्षेत्र या इकाई बनाना ठीक नही है। एक कस्बा (करीब दस हजार की आबादी का) और उसके आस-पास के गाँवो को इकाई का छोटे-से-छोटा हलका या महाल बनाने मे मुझे कोई हर्ज नही मालूम होता। मै यह जरूरी समझता हूँ कि एक ग्राम-मण्डल या महाल में दस या पन्द्रह हजार से कम आबादी न हो और उतनी बस्ती के गाँवो के समुदाय का एक ही क्षेत्र हो। उसी प्रकार बडे शहर और उनके आसपास की बस्तियो का एक ही मण्डल मानना चाहिए।

हरएक ग्राम-मण्डल मे कार्यकर्ताओ के एक ही तन्त्र को सेवा करनी चाहिए और उन सबको सम्मिलित जिम्मेदारी से काम करना चाहिए। हाँ, वे अपनी प्रवृत्तियो के अलग-अलग महकमे बना सकते है और हरएक महकमे की अलग-अलग समितियाँ भी बना सकते है। उसी प्रकार ग्राम-मण्डल के एक-दूसरेसे जुडे हुए उप-विभाग भी बनासकते हैं।

यह जरूरी नही है कि इस तन्त्र की रचना के लिए बाकायदा चुनाव हो। वे अपने आप ही मुकर्रर हो जायें, तो कोई हर्ज नही है; क्योकि एक बात पक्की है कि अगर जनता के सभी प्रमुख दलो को ग्राम-मण्डल में विश्वास न हो और अगर वह नौजवानो को बड़ी तादाद में आकर्षित न कर सकता हो, तो वह ज्यादा काम कर ही नही सकेगा। लोग उसके कामो में योग दे, यही उसके बाजाप्ता चुने हुए होने की निशानी है।

जिला, प्रान्तीय, मध्यस्थ जैसी ऊपर की संस्थाओ के उसे मजूरी देने की बाबत यह नीति हो सकती है कि अगर एक ही ग्राम-मण्डल में

काम करनेवाले बहुत-से तन्त्रो में नाम कमाने के लिए होड़ हो रही हो, तो एक को भी मंजूरी न दी जाये। हरएक से कह दिया जाये कि या तो वह मंजूरी के बिना काम करे, या सब मिलकर काम करने का कोई रास्ता निकालें। तन्त्र के भीतरी झगड़े उन्हे अपने आप निपटाने चाहिएँ, ऊपर की संस्था को उनमें दखल देने से इनकार करना चाहिए और जबतक वे अपने झगड़े निपटाते नही है, तबतक किसी भी तन्त्र को मंजूरी नहीं देनी चाहिए।

हरएक तन्त्र को अपना विधान और नियम बना ही लेने पड़ेंगे। मार्ग-दर्शन के लिए कुछ नमूने सुझाये जा सकते हैं। लेकिन उनमें अपनी योग्यता के मुताबिक हेर-फेर करने की आजादी हरएक को होनी चाहिए। कुछ बुनियादी सिद्धान्त बेशक सबके लिए समान रहेगे ही। तन्त्र की प्रवृत्तियों मे नीचे लिखी प्रवृत्तियो में से कुछ तो जरूर गिनी जायेंगी :—

१. अहिंसा के पालन में चुस्त रहनेवाले सेवको का एक दल बनाना, जो जरूरत होने पर चौकी या पहरा दे और लूट-खसोट, हमला, हुल्लड़, आग, बाढ या दूसरे सकटो के मौक़े पर सेवा करे;

२. ग्राम-मण्डल का आर्थिक सगठन, याने उसकी पैदावार आयात-निर्यात, उत्पत्ति, बँटवारा, बिक्री वगैरा का नियमन करना,

३. ग्राम-मण्डल के खादी तथा दूसरे उद्योगो का सगठन करना;

४. बेकारी मिटाने के काम शुरू कराना;

५. बूढे, बीमार, अपाहिज, कगाल वगैरा के लिए राहत के काम या दान खोलना;

६. गुण्डे, शराबी, बदचलन वगैरा को सुधारने के काम शुरू करना;

७. हरिजन तथा दूसरे लोगों की तरक्की के काम करना और उनकी सामाजिक तथा दूसरी दिक्कतें दूर करना;

८. (साक्षरता-प्रचार के अलावा) लोगो का सामान्य ज्ञान बढ़ाना;

९. (सरकारी या खास सस्थाओ की प्रवृत्तियो में रही हुई कमी को पूरा करने की गर्ज से) स्त्री-शिक्षण,

१० (इसी तरह कमी पूरी करने के लिए) बुनियादी तालीम तथा साक्षरता-प्रचार;

११ (इसी तरह कमी पूरी करने के लिए) दवा, स्वास्थ्य और सफाई (सैनिटेशन) के काम,

१२. प्रजा के चरित्र को ऊपर उठाना,

१३ ग्राम-मण्डल में बसनेवाली अलग-अलग कौमो, जमातो और दलो के आपसी सम्बन्ध सुधारना,

१४ जीव-दया,

१५ लोक-प्रिय, सस्ते और नैतिक दृष्टि से हितकर मनोरजन, खेल-कूद, उत्सव, कथा-कीर्तन, गायन, भजन, मेले, प्रदर्शिनियो वगैरा का आयोजन करना,

१६. रास्ते, नाले, पुल वगैरा दुरुस्त करने जैसे लोकोपयोगी काम अपनी मेहनत से करना। (यह सरकारी कामो के अलावा या उसकी मदद लेकर भी हो सकता है);

१७. पड़ोस के ग्राम-मण्डलों से सहयोग करना,

१८. ऊपरी और मध्यस्थ सस्थाओ से निकट सम्बन्ध रखना।

इसके साथ-साथ पैसों या चीजों के रूप में चन्दा इकट्ठा करने का एक महत्त्व का काम हरएक तन्त्र के जिम्मे रहेगा। उसके लिए बराबर हिसाब-किताब और नोध (विवरण) रखना भी एक काम माना जा सकता है।

यह जरूरी नही है कि हरएक तन्त्र इस तरह की हरएक किमत

उठा ले। अगर किसी ग्राम-मण्डल में इनमें से किसी काम में निपुण कोई स्वतन्त्र सन्तोषजनक संस्था हो, तो वह मण्डल उस काम को अपनी सूची में से कम कर सकता है।

१६
उपसंहार

परचक्र के किसी प्राचीन काल में हिन्दुओ के पूर्वजो ने—वर्ण-व्यवस्था से भिन्न, मगर उसके अनुकरण में—ज्ञाति या जाति-व्यवस्था जारी की। उसकी रचना केवल धन्धे पर नही, बल्कि अनेक भेद-दर्शक निमित्तो पर हुई—जैसे, जाति (रेस) वतन, धन्धा, धर्म, भाषा वगैरा। कुछ अर्से तक यह व्यवस्था काठ के समान जड नही थी, बल्कि रबड़-जैसी लचीली थी। इसलिए विदेशियो को हजम करके और समाज में हरएक का उचित स्थान नियत करके सारी जनता का एक ही महान प्रजा के रूप में पहचाना जाना सम्भव हुआ। इस प्रकार बनी हुई प्रजा का प्राचीन 'आर्य' नाम ही जाता रहा और जातियो की एक-दूसरे से कुछ हद तक बिलकुल अलग रहने की खासियत होने पर भी सारी प्रजा ने हिन्दू' नाम मे एकत्व पाया। आगे चलकर—जैसा कि सभी सजीव शरीरो और तन्त्रो में होता है—उस व्यवस्था में बुढ़ापे की खराबियाँ पैदा हुईं। वह जीर्ण और शीर्ण होकर काठ के समान कठिन हो गयी और बाद में आनेवाले विदेशियो को उचित रीति से अपने आप में मिला लेने की या जाति-व्यवस्था के बाहर रहे हुए अथवा बहिष्कृत किये गये समूहों को अपने आपमें समा लेने की शक्ति गँवा बैठी। इसलिए अब सुधरी हुई नींव पर भारतीय प्रजा की एक नयी व्यवस्था का निर्माण करना आवश्यक हो गया है।

वर्ण-व्यवस्था और जाति-व्यवस्था की कल्पना में अहिंसा का ही

बीज था; परन्तु वह नाममात्र था। समाज के कमजोर या रोषपात्र बने हुए लोगो का शोषण करना, उनके स्वाभिमान को ठेस पहुँचाना या उनकी ढोरो जैसी हालत कर डालना आदि की तरह की सूक्ष्म हिंसा का उसमें निषेध नही था। इसके अलावा सभी जातियो की सामाजिक समानता और हरेक मनुष्य की राजनैतिक तथा नागरिक अधिकारो की समानता उसमे मजूर नही की गयी थी।

फिर भी, अहिंसा की नीव पर समाज-रचना करने का वह प्रयत्न था और उसकी बदौलत निःशस्त्र लोगो ने सफल रीति से अपनी ताकत दिखाने की शक्ति पायी थी। सदियों तक वह व्यवस्था उपयोगी साबित हुई।

उस जमाने मे यात्रा करने और सन्देश भिजवाने के साधनो की कमी को देखते हुए एक तरफ से इस ज्ञाति-व्यवस्था के अखिल भारतीय स्वरूप पर और दूसरी तरफ से उस व्यवस्था के जगह-जगह पैदा किये हुए रूपो की विविधता पर हमे अचम्भा हुए बिना नही रहता। इसका यही अर्थ है कि किसी ने एक नया विचार जनता के दिल में पैदा कर दिया और बाद में लोगो ने उस विचार को स्वय-प्रेरणा और सद्बुद्धि से व्यवहार में विकसित किया। उसी विचार को नये और विशेष शुद्ध रूप में प्रजा में फिर से बोना चाहिए और यह विश्वास रखना चाहिए कि लोग उसे समझेंगे और बढायेंगे।

गीता में कहा गया है कि हरएक को अपनी प्रकृति द्वारा नियोजित कर्ममार्ग का धार्मिक रीति से अनुसरण करना चाहिए। इसी को उसका स्वधर्म कहना चाहिए। स्वधर्म के आचरण में यदि मृत्यु आवे, तो वह उसे भी अच्छा समझे, परन्तु परधर्म को भयकर समझे। (अ० ३।३५) यह विचार प्रकृति के नियमो के अनुसार ही है।

हरएक प्राणी और योनि में एक अंतःशक्ति मौजूद है। उसकी बदौलत वह अपने शरीर के अवयवों में और अपनी जीवन-निर्वाह-पद्धति, रहन-सहन और व्यवस्था में इस तरह के हेर-फेर कर सकता है और खास ढाँचे पैदा कर सकता है, कि जिससे इर्द-गिर्द की परिस्थिति में वह टिक सकता है और शक्तिमान होता है। इतना ही नहीं, वरन् कुछ दर्जे तक अपने शत्रुओं के सामने डटे रहने की और उनका मुक़ाबला करने की ताक़त भी हासिल करता है। ऐसा करने में वह प्राणी (या योनि) अपने प्रतिकूल परिस्थितियों का अनुकरण नहीं करता। बल्कि अनुकूल परिस्थितियों से ही बोध लेता है। वह शत्रु के आयुधों और रीतियों को ग्रहण नहीं करता; वरन् बिल्कुल ही नयी और कभी-कभी शत्रु से उल्टी ही तरह की युक्तियाँ खोजता है। जैसे घास का टिड्डा जिस तरह की पत्तियों में रहता हो, उसी तरह के रूप-रंग धारण करता है। साँप और नेवले के बीच सनातन वैर माना जाता है। इसलिए हरएक ने अपने-अपने खास तरीके और हिकमतें खोजी है, जिनकी बदौलत किसी का सर्वथा नाश नहीं हो सकता।

मनुष्य-मनुष्य के बीच इस तरह का योनि-भेद तो नहीं है। परन्तु जब कोई मानव-जाति संस्कृति की पसन्दगी के कारण या बाह्य परिस्थितिवश शेष मानवजाति से बिल्कुल जुदी परिस्थिति और संयोगों में जा पड़ी हो, तब कहा जा सकता है कि उस जाति के लिए एक अलग तरह की नियति (भाग्य) या एक खास कर्त्तव्य (मिशन) पैदा हो गया है। इसलिए उसे आक्रमणकारी जातियों का सफलता से मुक़ाबला करने के लिए अपने जीवन-निर्वाह और समाज-व्यवस्था के खास तरीक़े का विकास करना चाहिए। कारण कि इस दृष्टि से वह एक अलग ही योनि के प्राणी जैसी परिस्थिति में है। उसीके अनुकरण

से हम ताकत नहीं कमा सकते—खास कर जब हमें ऐसा मालूम होता हो कि समग्र मानव-जाति के हित में भी हमें सौंपा हुआ विशेष कर्त्तव्य (मिशन) अथवा हमारे लिए नियत संस्कृति ही विशेष उचित है।

ऐसी विशेषता प्रकट करने की अंत:शक्ति हमारे अन्दर मौजूद है ही —प्रकृति के नियम से होनी ही चाहिए। परन्तु उल्टी दिशा में ले जानेवाले प्रलोभनों के बावजूद भी जब हम दृढ़ता से उसमें चिपटे रहेंगे तभी वह बढ़ सकेगी।

अगर हमें अपनी विशेष नियति या मिशन में श्रद्धा हो, तो हम निश्चय ही यह आशा कर सकते है कि संसार में से हिंसा को बिल्कुल मिटा देना मुमकिन न हो तो भी, हिंसा का सफल मुकाबला करने के लायक शक्ति तो अहिंसा में है ही।

: ३ :

मनुष्य की स्वभावगत अहिंसावृत्ति

१

भूमिका

कई वर्ष बीत गये। शायद सन् १९२२ या २३ की बात है। अमलनेर का तत्त्वज्ञान-मन्दिर देखने गया था। महाराष्ट्र[१] के एक प्रसिद्ध अध्यापक, जो अब दिवगत हो चुके है, उस वक्त वहाँ काम करते थे। उन्होने मुझसे कहा कि उस संस्था में रहनेवाले विद्वान् पौर्वात्य और पाश्चात्य तत्त्वज्ञान का सूक्ष्म अध्ययन करके पौर्वात्य तत्त्वज्ञान, विशेषकर वेदान्त, कितना श्रेष्ठ और पूर्ण है—यह सिद्ध करने का प्रयत्न करते है। अपनी संस्था की बहुत-सी जानकारी देने के बाद उन्होंने मुझसे सत्याग्रहाश्रम का हाल पूछा। मैने बतलाया। बाद में वे मुझसे कहने लगे, "देखिए, मै सच कहता हूँ। आप बुरा न मानिए। हम लोगो को आपकी यह अहिंसा बिलकुल नही जँचती। यह तो गाधीजी का एक खब्त है। वह मनुष्य स्वभाव के विरुद्ध है।" वगैरा वगैरा।

ऐसा कहा जा सकता है कि यह राय—अगर सारी महाराष्ट्रीय जनता के मत की नही, तो कम-से-कम जिस शिक्षित वर्ग ने आजतक महाराष्ट्र का जनमत बनाया है और उसका नेतृत्व किया है—उस वर्ग के मत की प्रतिनिधिरूप है।

अपनी जो राय बन गयी हो उसे साहित्यिक और तार्किक शक्ति

१. यह लेखमाला मराठी 'पुरुषार्थ' मासिक के लिए मूल मराठी में लिखी गयी थी, इसलिए इसमें महाराष्ट्र का उल्लेख अधिक है।

से बड़ी कुशलतापूर्बक प्रतिपादन करने की कला में यह विद्वान्वर्ग सिद्धहस्त है। इसलिए लोगो मे दूसरे किसी मत के प्रति श्रद्धा उत्पन्न करने के लिए पहले इस विद्वान्वर्ग के मत मे क्रान्ति कराना जरूरी हो जाता है। जबतक हम इनका मत-परिवर्तन नही कर सकते तबतक चाहे साधारण जन-स्वभाव दूसरी तरह का और अहिंसा-शक्ति के अनुकूल क्यों न हो, तो भी लोगो की सारी शकाओ का निराकरण हम नही कर सकते। चैतन्य की सभी शक्तियो का यह धर्म है कि साधक अवस्था में वे अपना पूर्ण और बलवान स्वरूप प्रकट नही कर सकती। कारण स्पष्ट है। स्वस्थ शरीर में किसी रोग के जन्तु पैदा कर देना जितना आसान है उतना आसान उसका निरसन करना नही है। इसी तरह भ्रम उपजा देना आसान है, हटाना कठिन है। उसके लिए केवल साहित्यिक और तार्किक कला ही काफी नही है। बल्कि बार-बार अनेक प्रत्यक्ष प्रयोगो द्वारा अनुभव करा देने की तथा लोगो की वृत्तियो को भिन्न सस्कारो द्वारा नये ढांचे मे ढालने की जरूरत होती है। इसलिए इस काम के लिए अहिंसा-शक्ति का प्रतिपादन करनेवाले साहित्यकारो और तार्किकों की अपेक्षा उस शक्ति के कुशल सेनापति अधिक योग्य हैं। उन्हे अपने अहिंसा के प्रयोगो द्वारा विद्वानो के मतपरिवर्तन का प्रयत्न करना चाहिए। वे सफल ही होगे यह कहना तो मुश्किल है, क्योकि छुटपन से जो मत कायम हो जाता है वह एकाएक नही बदलता। और अगर मत बदल भी जाये तो भी स्वभाव नही बदलता, और मत बदलने की चेष्टा करनेवाले के प्रति मत्सर का भाव पैदा होना सभव है। यह विषय केवल मत से सम्बन्ध रखनेवाला नही है। यह स्वभाव का सवाल है। इसलिए मत-परिवर्तन कराने का प्रयत्न करनेवाले पर क्रोध भी आता है। फिर भी, यद्यपि वर्तमान विद्वानों का मत न बदले, तो भी अहिंसा के सफल प्रयोग नयी पीढ़ी

के जीवन को नये ढाँचे में ढालने में सहायक होंगे और साधारण जनता जल्दी ही उन्हे मान्य करने लगेगी।

मतलब यह है कि जिनका आज अहिंसा में थोड़ा-बहुत विश्वास है, उन्हे जो विद्वान् उसे नहीं मानते उनका साहित्य और तर्क द्वारा मत-परिवर्तन कराने की झझट मे पडने की जरूरत नही है। बल्कि वे अहिंसा के सफल प्रयोग कर दिखाने का और नयी पीढ़ी में अहिंसा-वृत्ति निर्माण करने का प्रयत्न करे। पृथ्वी अपने आपकी और सूर्य के चारो तरफ घूमती है। ऐसा कहनेवाले लोग किसी जमाने में पागल समझे जाते थे। किसी जमाने के वैज्ञानिको को यह असम्भव प्रतीत होता था कि हवा की अपेक्षा भारी पदार्थ के बने हुए विमान भी हवा मे उड़ सकेंगे। इसी प्रकार आज के मानसशास्त्री और विज्ञानवेत्ता इस बात पर जोर देते हुए पाये जाते हैं कि "अहिंसा साधारण जनस्वभाव के प्रतिकूल है," और "प्राणिमात्र में कुदरती तौर पर रही हुई आत्मरक्षा की प्रेरणा मे से हिंसा का उद्भव हुआ है, इसलिए अहिंसा कुदरती नियम के विरुद्ध है।" लेकिन इसके बावजूद भी जिन लोगो की बुद्धि को अहिंसा जँचती है, अनुभव की दिशा में अपना कदम लगातार आगे बढ़ाते रहना चाहिए।

२
सामाजिक विशेषताओं के बारे में भ्रम

आजकल यह कहने का रिवाज जोर पकड रहा है कि "हर एक मनुष्य की एक खास प्रकृति होती है और प्रत्येक समाज की भी एक प्रकृति-विशेष होती है। महाराष्ट्रीय स्वभाव अमुक प्रकार का होता है, गुजराती अमुक तरह का, बंगाली ऐसे होते हैं, कानडी वैसे होते है, मुसलमान में फलाँ खासियतें होनी ही चाहिएँ"—आदि-आदि तरह की बातें हम आजकल बहुत जोरो से कहने लगे है। सारी की सारी कौम या प्रान्त के विषय में इस

तरह की कोई राय क़ायम कर लेना अल्प अनुभव का परिणाम है। समझ-दार लोगों को ऐसे विचार हरगिज नही फैलाने चाहिएँ। बल्कि उन्हें तो विषय में इस तरह कोई अपने प्रान्त के लोगो की ऐसी धारणाएँ दूर करने की कोशिश करनी चाहिए। ऐसी गलत धारणाओ की बदौलत प्रांतो में परस्पर विद्वेष पैदा होता है। फिर ये धारणाएँ बिल्कुल ऊपरी होती है। उनके कारण आक्षेपित समाज के लोगो का स्वभाव बदलता हो, सो बात नही। उदाहरण के लिए, महाराष्ट्र मे अगर यह धारणा हो कि गुजराती लोग भावना-प्रधान होते है या महाराष्ट्र के देशस्थ ब्राह्मणो की ऐसी धारणा हो कि कोकणस्थ ब्राह्मण भावनाशून्य होते है, अथवा कोक-णस्थ ब्राह्मणो की यह धारणा हो कि देशस्थ फूहड होते है, तो उसकी बदौलत जो गुजराती व्यवहारकुशल है जो कोकणस्थ भावुक है, या जो देशस्थ व्यवस्थित हैं उनका स्वभाव बदलने की कोई सम्भावना नही है।

फिर, जब किसी समाज के लेखक या वक्ता अपने समाज के विषय में यह कहने लगते है कि "हम ऐसे है और वैसे है, हमें फलानी चीज जँचती है और ढिमकी हरगिज नही जँच सकती, हमारे खून में यह है और वह नही है, हमारी परम्परा अमुक है" आदि-आदि—तब एक खतरा पैदा हो जाता है, क्योकि ऐसी बाते बार-बार दोहराने से जो सस्कार स्वभावगत न हो, वे भी उन बातों के लगातार सुनते रहने से पैदा होने लगते है। "गाधीजी गुजराती हैं इसलिए हमें पसन्द नही है; अहिंसा भावनामय है, इसलिए हम उसके खिलाफ हैं; लोकमान्य ने अहिंसा का प्रतिपादन नही किया, इसलिए उसे हम नहीं चाहते; श्री समर्थ रामदास के साहित्य में हिंसा या मुसलमानो के द्वेष को स्थान है इसलिए हम अहिंसा और साम्प्रदायिक एकता की बातें सुनना नहीं चाहते; तुकाराम महाराज ने भी दुष्टो का नाश करने के

पक्ष में अपनी सम्मति दी है, इसलिए अहिंसा धर्म हमारे प्रान्त के लिए अनुकूल नही है; अहिंसा जैनो और बौद्धो की है; वह हिन्दुओ की नहीं है।"—इस प्रकार के सस्कार करते रहने से, अहिंसावृत्ति उत्पन्न होना सम्भव और उचित हो, तो भी वह चित्त में घर नही कर सकती।

मतलब यह कि बुद्धिमान मनुष्य को यह उचित नही है कि वह हर एक सत् या असत् वृत्ति को प्रान्त-स्वभाव बनाने की चेष्टा करे। अगर हिंसा ही उचित हो तो उसकी नीव केवल महाराष्ट्र में ही मजबूत हो, यह काफी नही है। अगर अहिंसा ही उचित हो तो केवल गुजरात में उसका विकास होने से काम नही चलेगा। हिंसा, अहिंसा या दोनों के कम-अधिक मेल—जो कुछ भी मनुष्य-जाति के लिए उपयुक्त हो—का विकास प्रत्येक मनुष्य मे कराने की कोशिश होनी चाहिए। हिंसा-अहिंसा, दया-क्रोध, क्षमा-दण्ड आदि गुण-वृत्तियाँ है, न कि कर्म-वृत्तियाँ या धन्धे-पेशे। गुणों मे व्यक्तिगत कम-ज्यादापन हो सकता है। लेकिन, भौगोलिक या जातीय कारणो से विशेषता नही होनी चाहिए। कम से कम वह पैदा करने की कोशिश तो कभी नहीं करनी चाहिए। कर्म-वृत्तियो—धन्धों—मे वैसा प्रयत्न किया जा सकता है। उदाहरण के लिए समुद्र के किनारे रहनेवाले लोगों में परम्परा से नाविक-विद्या की निपुणता उत्पन्न की जाये तो उसमें कोई दोष नही। समतल भूमि पर रहनेवाले लोगो को खेती-बाडी की कुशलता सिखायी जाये तो हर्ज नही। लेकिन अहिंसा, शौर्य, भय, उदारता, कृपणता आदि गुणो की वृत्तियाँ आम तौर पर सर्वत्र विकसित होनी चाहिएँ। तात्पर्य यह है कि अगर अहिंसा एक हीन या हानिकारक वृत्ति हो तो वह कही भी नही होनी चाहिए। और अगर वह उदात्त और लाभदायी हो,—मगर महाराष्ट्र में उसके विकास के लिए काफी कोशिश न की गयी हो—तो अब

वह चेष्टा करनी चाहिए। केवल प्रान्त या जाति के अभिमान से उसकी अवगणना या निषेध करना न तर्कसगत है न स्वार्थसाधक।

३
केवल प्राकृत प्राणी

काम, क्रोध, लोभ, भय आदि के समान अहिंसा दया, क्षमा, उदारता आदि वृत्तियाँ भी प्राणिमात्र में निसर्गत. मौजूद है। ऐसा एक भी जीव नही है जिसमें अहिंसा लेशमात्र भी न हो। मै यह भी स्वीकार करता हूँ कि हिंसा का नाम निशान भी न हो ऐसा देह-धारी अबतक कभी पैदा नही हुआ है। मनुष्य को छोडकर दूसरे जीवो की हरएक योनि में विविध वृत्तियो का विकास विशेष प्रकार से हुआ है। 'यह गाय सीधी है, वह उदण्ड है', इस तरह के कुछ व्यक्तिगत भेद भले ही पाये जाते हो, लेकिन अक्सर ये भेद बहुत छोटे दायरे मे रहते है। शायद ये भेद पालतू जानवरो में ही पैदा होते है। कौवे, चिडियाँ, गीदड, चीले वगैरा आजाद प्राणियो में उनके जाति-स्वभाव ही पाये जाते हैं। व्यक्तिगत स्वभाव-भेद कम-से-कम इतने स्पष्ट तो नही होते कि वे नजर आये।

लेकिन मनुष्य की बात कुछ और हो गयी है। वहाँ प्रत्येक व्यक्ति तथा भौगोलिक, राजनैतिक, धार्मिक या जातीय बन्धनो से सबद्ध मानव-समूह ने इस वृत्ति का विकास या ह्रास भिन्न-भिन्न परिमाण मे किया हुआ पाया जाता है। मनुष्य केवल प्रकृति के बस नही रह गया है। वह अपनी वृत्ति में प्रयत्नपूर्वक फर्क भी करता है।

फिर भी, एक पीढी या एक व्यक्ति के जीवन में यह परिवर्तन एक खास मर्यादा में ही हो सकता है। प्रकृतिधर्म में आमूल परिवर्तन नही किया जा सकता। इसीलिए गीताकार को कहना पड़ा कि:—

सदृशं चेष्टते स्वस्याः प्रकृतेर्ज्ञानवानपि ।
प्रकृतिं यान्ति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति ॥

और अर्जुन का जाति-स्वभाव जानकर उससे कहना पड़ा:—

यदहंकारमाश्रित्य न योत्स्य इति मन्यसे ।
मिथ्यैष व्यवसायस्ते प्रकृतिस्त्वां नियोक्ष्यति ॥
स्वभावजेन कौन्तेय निबद्धः स्वेन कर्मणा ।
कर्तुं नेच्छसि यन्मोहात् करिष्यवशोऽपि तत् ॥

तात्पर्य यह कि मनुष्य मे भिन्न-भिन्न प्रकार के स्वभाव तथा वृत्ति पैदा करने का सतत प्रयत्न प्राचीन काल से ही होता आया है। लेकिन एक अवधि मे या व्यक्ति में उस प्रयत्न को मर्यादित सफलता ही मिल सकती है। इसी प्रयत्न के पर्यायवाची शब्द हैं—संस्कृति, संस्कारधर्म, शिक्षा, तालीम, सिविलिजेशन, कल्चर आदि।

इन प्रयत्नो की और भी एक मर्यादा है। संस्कार बदलने का कितना ही प्रयत्न करने पर भी मूल वृत्तियो का आमूल उच्छेद कभी नही हो सकता। अर्थात् अगर अहिंसा मानव-स्वभाव की एक मूलवृत्ति हो तो उसका किसी एक व्यक्ति या समाज से अत्यन्त उच्छेद होना असम्भव है। वह अपने विकसित रूप में भले ही न रहे, किन्तु बीज रूप मे तो अवश्य रहेगी। चाहे यह बेलि बहुत बडे क्षेत्र में न फैले, तो भी वह अपने छोटे-से नपे-तुले दायरे में तो अवश्य रहेगी। उसमें बड़े-बडे फल भले ही न लगें, लेकिन छोटे अवश्य लगेंगे। एक पीढ़ी में वह सूख गयी-सी मालूम हो, तो भी दूसरी पीढ़ी में वह फिर पनपेगी। परन्तु अहिंसा-शून्य व्यक्ति या समाज बन ही नही सकता। उसी तरह अगर हिंसा भी मूलवृत्ति हो, तो उसके लिए भी यही कहना पड़ेगा।

तब हमें सबसे पहले इस बात की खोज-बीन करना जरूरी है कि

हिंसा और अहिंसा में से मनुष्य की मूल वृत्ति कौन-सी है ? और यदि ये दोनो उसकी मूल वृत्तियां हो, तो एक दूसरे से उनका मेल कैसे कराया जाये ?

इसका शोध करने के लिए 'हिंसा' और 'अहिंसा'—दोनो शब्दो को एक निश्चित अर्थ देना जरूरी है। अन्यथा, बहुत-सी चर्चा फिजूल जायेगी।

'हिंसा' और 'अहिंसा' की व्याख्या

बीज रूप से देखा जाये तो अहिंसा का अर्थ है—अपनी खुद की शारीरिक, वाचिक या मानसिक इच्छाएँ, कल्पनाएँ, आदर्श, सुख, आवश्यकताएं आदि का दमन कर दूसरे जीव का सुख बढाने दुःख घटाने के लिए सतोषपूर्वक त्याग करने की वृत्ति। और हिंसा का अर्थ है दूसरे जीवों की शारीरिक, वाचिक या मानसिक इच्छा, कल्पना, आदर्श सुख, आवश्यकता आदि की पर्वाह न करते हुए अपना ही सुख बढाने या दुःख घटाने की वृत्ति।

इसमें दो बाते है। अहिंसा मे दूसरे के लिए खुद खपने की और उसमें सतोष मानने की स्पष्ट वृत्ति होती है। हिंसा के लिए दूसरे को दुःख देने की, या उससे राजी होने की स्पष्ट वृत्ति आवश्यक नहीं है। केवल अपने को सुख हो, अथवा दु ख न हो और दूसरे के सुख-दु ख की पर्वाह न हो, इतना काफी है। यानी अहिंसा मे स्पष्ट भावना खुद कुछ कष्ट सहने की है। और हिंसा में स्पष्ट भावना स्वार्थ-सिद्धि की और जीवनाभिलाषा की है। जब जीवनाभिलाषा सुगमता से सिद्ध नही होती तब इस लापर्वाही मे कठोरता पैदा होती है। यह कठोरता प्राणिमात्र में जो सहज हिंसा है उसका परिस्थिति के कारण बना हुआ विकृतरूप है। वह हमेशा आवश्यक नही होती। इसलिए यह नही कहा जा सकता कि वह प्राणि-स्वभाव है।

कोई प्राणी जब दूसरो के प्रति उदासीन या निष्ठुर होता है, तब वह हिंसक बनता है। जब वह दूसरो के प्रति मोहवश, करुणा या अन्य किसी भावना से प्रेरित होकर अपनी उदासीनता या कठोरता छोड़कर उसकी चिन्ता करने लगता है, तब वह अहिंसक बनता है। हरएक प्राणी में ये दोनो वृत्तियाँ निसर्गसिद्ध है। दूसरो के लिए त्याग करने की वृत्ति का अगर कुदरत से ही अभाव होता और वह वृत्ति बाद में कृत्रिमरूप से प्राप्त की गयी होती, तो ससार में प्राणि-सृष्टि सभव ही न होती। जन्तुमात्र अपनी सतान के लिए, और कई बार अपनी जाति तथा बन्धुओ के लिए, और कभी-कभी तो दूसरी जातियों के लिए भी नित्य या नैमित्तिक त्याग करता है, इसीलिए प्राणियों का सृजन और पालन हो सकता है। जिन योनियो में सामूहिक जीवन का विकास हुआ है उनमें यह वृत्ति विशेष परिमाण में बढ़ी है। इन प्राणियों में से मनुष्य एक है।

एक दृष्टि से देखा जाये तो मनुष्येतर प्राणियों में स्वार्थ-साधन की वृत्ति की अपेक्षा त्याग की वृत्ति अधिक बलवती पायी जाती है। स्वार्थ-सिद्धि के लिए वे दूसरे प्राणियो का नाश करते तो हैं, लेकिन उसमें बहुत-सी मर्यादाएँ होती है। कभी-कभी एक ही जाति के दो व्यक्तियों में लड़ाई होकर वे एक दूसरे की जान भी ले लेते हैं। परन्तु हिंस्र प्राणियो में भी कभी ऐसा नहीं देखा जाता कि एक ही योनि के दो दल, एक दूसरे पर आक्रमण कर युद्ध कर रहे हो। एक जाति के चूहे दूसरी जाति के चूहो को भले ही मार डालें; लेकिन एक ही योनि के चूहों का एक समूह स्व-योनि के दूसरे समूह से दल बनाकर लड़ाई नहीं करता। मत-लब यह कि मनुष्येतर प्राणियों के जीवन में आमतौर पर व्यक्तिगत हिंसावृत्ति है। दूसरी योनियों के प्राणियों के नाश के लिए हिंसा का

तात्कालिक सगठन भी क्वचित् पाया जाता है। परन्तु आमतौर पर हिंसक सगठन अर्थात् सगठित हिंसा नही पायी जाती।

लेकिन जिन प्राणियो में समूह-जीवन पाया जाता है उनमें थोडे या अधिक परिमाण मे अहिंसक सगठन होता ही है। यह कहा जा सकता है कि अहिंसावृत्ति के विकास के बाद ही प्राणियों में समूह-जीवन की योग्यता पैदा होती है। या यो कह लीजिए कि किसी कारण से समूह-जीवन की अभिलाषा पैदा होने पर अहिंसक सगठन की आवश्यकता प्रतीत होने लगती है। परन्तु प्राणि-जीवन का निरीक्षण करने से यह निश्चितरूप से ज्ञात हो जायेगा कि अहिंसक सगठन और समाज-जीवन का पारस्परिक समवाय-सबध है।

अहिंसक सगठन मे मनुष्य कोई अपवादरूप जन्तु नही है। मनुष्य चाहे बिलकुल बर्बर अवस्था मे हो या बिल्कुल अद्यतन 'सभ्यता' की अवस्था मे हो उसके लिए एक समाज के रूप मे जीवित रहना तभी सभव है जबकि व्यक्ति व्यक्ति तथा परिवार के लिए, परिवार जाति के लिए, जाति राष्ट्र के लिए और राष्ट्र अखिल समाज के लिए, विवेकबल या भावनाबल से त्याग करता है, चाहे यो कह लीजिए कि व्यवस्थित समाज की स्थापना का ही दूसरा नाम अहिंसक संगठन है।

लेकिन मनुष्य और दूसरे प्राणियो मे एक बडा भेद है। पालतू जानवरों के सिवाय दूसरे सारे प्राणी केवल प्राकृत हैं। वे प्रकृति की प्रेरणा से व्यवहार करते है और उसके नियमों के अधीन होकर रहते हैं। स्वप्रकृति या बाह्यप्रकृति में कोई परिवर्तन करने की कोशिश नहीं करते। मनुष्य भी अन्त मे प्रकृति की प्रेरणाओ और नियमों के अधीन ही तो है। लेकिन एक हदतक वह अपनी और बाह्य प्रकृतियो में परि-वर्तन कर सकता है। यह परिवर्तन विकृत और सस्कृत दोनों तरह का

हो सकता है। अर्थात् मनुष्य प्राकृत, विकृत और संस्कृत—ऐसा त्रिविध प्राणी है। त्रिगुण (सत्त्व, रज, तम) के समान प्रकृति संस्कृति और विकृति भी हरएक मनुष्य में थोड़े या अधिक परिमाण में होती ही हैं।

इसलिए हर बात में मनुष्य का व्यवहार दूसरे प्राणियों की अपेक्षा कुछ भिन्न रूप का होता है। उदाहरण के लिए मैं ऊपर कह आया हूँ कि मनुष्येतर जीवो मे नैमित्तिक सगठन का अपवाद छोड़कर हिंसक सगठन नही होता। जीवनाभिलाषा होते हुए भी आमतौर पर स्वजाति-शत्रुत्व नही होता। बल्कि उनके व्यवहार से तो ऐसा प्रतीत होता है कि मानो अहिंसक संगठन से ही जीवन का धारण-पोषण सुचारु-रूप से हो सकता है—ऐसी उनकी धारणा हो। अपने खाद्य प्राणियों के अतिरिक्त दूसरे प्राणियो को मारने की वृत्ति उनमें साधारण रूप से पैदा नही होती परन्तु मनुष्य में जिस प्रकार अहिंसक सगठन का विकास हुआ है उसी प्रकार हिंसक संगठन का भी बहुत बड़ा विकास हुआ है। स्वयोनि-शत्रुत्व-रूपी विकृति बहुत भद्दी तरह से प्रकट हुई है। इसलिए उस सगठन का उपयोग केवल खाद्य या पीडक जन्तुओ के संहार तक ही सीमित न रहकर वह निर्दोष प्राणियो की हत्या तथा स्वयोनि के लिए भी बेहद काम में लाया जाता है।

हिंसक सगठन का, यानी लड़ाई की तैयारी का सवाल हमारे सामने क्यों उपस्थित होता है ? इसका एक ही कारण है। वह यह कि मनुष्य में स्वयोनि-शत्रुत्व अमर्याद है। हजारों वर्षों के अनुशीलन से मनुष्यो में यह गुण रूढ हो गया है। परन्तु इतना ध्यान में रखना आवश्यक है कि यह गुण चाहे कितना ही प्राचीन क्यो न हो उसकी बदौलत प्रकृति में सस्कृति के बदले विकृति ही हुई है। जिस प्रकार तपेदिक या कोढ़ मनुष्य-समाज में वेद-काल से विद्यमान होते हुए भी विकार ही हैं,

विकार ही रहेंगे और उखाड़ फेंकने के ही योग्य समझे जायेंगे; उसी प्रकार स्वयोनि-शत्रुत्व भी, चाहे बाबा आदम के जमाने से ही क्यों न चला आता हो, एक विकार ही है और उसकी जड़ें खोदना संस्कृति का उद्देश्य है।

४

अहिंसा, न्याय और साहाय्य

उपर्युक्त सारी बातें स्वीकार करने पर भी एक प्रश्न रह जाता है "जो दूसरे के लिए संतोषपूर्वक त्याग करता है, उसके विषय में हमें कोई शिकायत नहीं है। लेकिन जब एक तरफ स्वार्थ-तृप्ति की विकृत वृत्ति हो और दूसरी तरफ, संतोषपूर्वक नहीं, वरन् लाचारी से, त्याग करने की परिस्थिति हो, तो उस समय उस दूसरे पक्ष की स्थिति न तो 'प्राकृत' कही जा सकती है और न 'संस्कृत' ही। उसे तो विकृति ही कहना होगा। आपकी ही व्याख्या के अनुसार जिसमें त्याग हो परन्तु संतोष न हो, उसे अहिंसा नहीं कह सकते। चाहे उसे 'भय' या 'निःसहायता' या और किसी दूसरे नाम से पुकारिए। लेकिन यह तो मानना ही पड़ेगा कि वह विकृति है। इस प्रकार जब उभयपक्षों में विकृति हो तब न्याय के रूप में एक विवेक पैदा होता है, जो स्वार्थ-साधु पक्ष का निग्रह और त्रस्त पक्ष की सहायता के लिए निःस्वार्थी मनुष्य को प्रेरित करता है। चिड़िया बिल्ली का भक्ष्य है। इसलिए अगर बिल्ली चिड़िया को पकड़ ले तो दरअसल हमें बिल्ली पर गुस्सा आने का या दखल देने का कोई कारण नहीं होना चाहिए। लेकिन हम यह साफ देखते हैं कि चिड़िया अपनी खुशी से बिल्ली का शिकार नहीं बनती। बल्कि विवश होकर अपनी प्राण-हानि सहन कर लेती है और अधिक निर्बल है। इसीलिए हमारे अन्दर एक न्याय-वृत्ति जाग्रत होकर वह हमें चिड़िया

को बचाने की गरज से बिल्ली का निग्रह करने को प्रेरित करती है इसमें बिल्ली को बाज दफा एकाध धौल भी खानी पडती है। यदि विवेक से देखा जाये तो बिल्ली पर गुस्सा आने का कोई कारण नही है उस-पर भी दया ही आती है। लेकिन फिर भी अगर दुबारा वैसा मौका आये तो हम फिर वही करेंगे जो अब किया है, क्योकि जब बलवान और निर्बल मे अपने-अपने स्वार्थ के लिए सघर्ष पैदा होता है, तो बलवान का निग्रह और निर्बल की मदद करने की एक बलवान वृत्ति हमारे अन्दर उठती है। इसे अहिंसा कहा जाये या हिंसा? अब अगर सयोग से हम या दूसरी चिडियाएँ उस चिडिया के अन्दर किसी उपाय से बिल्ली को हराकर आत्मरक्षा करने का बल पैदा कर सके, तो उस बल को विकृति क्यों कहा जाये? बल्कि यह क्यो न कहा जाये कि हम या वह चिडिया अधिक सस्कारी बनी?

यहाँ चिडिया और बिल्ली भिन्न योनि के जन्तु है, यह बात सही है। कदाचित् आप कहेगे कि उनके लिए दूसरा नियम होगा और मनुष्य मनुष्य के व्यवहार के लिए दूसरा, लेकिन यह क्यों? अगर आदमियो मे भी एक व्यक्ति या समूह बिल्ली जैसा बन गया हो और दूसरा चिडियो जैसा तो वहाँ भी यही नियम क्यो न लागू किया जाये? इसलिए आपके इस हिंसा-अहिंसा के पृथक्करण में न्याय-वृत्ति का स्थान कहाँ है? सो तो समझाइए।"

अब इसका विचार करें।

विचार करने से ज्ञात होगा कि न्यायवृत्ति केवल मानुषी वृत्ति है। दूसरी प्रकृतिवश प्राणियो में न्यायवृत्ति जैसी कोई प्रेरणा नहीं है, उनमें साहाय्य-वृत्ति की प्रेरणा है। खुद कष्ट सहकर भी स्वयोनि के या दूसरी योनियो के जन्तुओं की सहायता करने की वृत्ति प्राणिमात्र में पायी जाती

है। इसी के मानुषरूप को हम "न्यायवृत्ति" संज्ञा देते है। मतलब यह कि न्याय-वृत्ति प्राणि मात्र में पायी जानेवाली साहाय्य-वृत्ति का ही एक रूप है।

साहाय्य वृत्ति के क्षेत्र मे व्यक्ति केवल अपने लिए काम नही कर सकता। दूसरे प्राणी या दूसरो के साथ वह स्वयं आ सकता है। केवल अपने लिए प्रयत्न करना साहाय्य वृत्ति नही है। वह तो महज जीवनाभिलाषा--प्रकृति-धर्म-गत हिंसा—है दूसरो के लिए खपना साहाय्य वृत्ति है। उसमे सतोषपूर्वक खुद त्याग करने की वृत्ति है। इसलिए वह अहिंसा के क्षेत्र में आती है।

लेकिन दूसरी सारी वृत्तियो की तरह साहाय्य वृत्ति ने भी मानवयोनि में विकृत और सस्कृत दोनो रूप लिये है। मूलभूत प्रश्न यह नहीं है कि न्यायवृत्ति अहिंसक है या हिंसक, बल्कि यह कि उसके कौन से रूप प्राकृत है, कौन से विकृत और कौन से सस्कृत ? न्यायवृत्ति--साहाय्यवृत्ति–अहिंसा से भिन्न नही है। इसलिए अहिंसा की शुद्धि, वृद्धि और सस्कृति में ही न्यायवृत्ति का परिपोष हो सकता है।

इसलिए यह प्रश्न छोडकर हम अहिंसक सगठन के मूल प्रश्न का ही विचार करे।

५

आत्म-रक्षा का प्रश्न

इसपर भी पाठक शायद पूछेगे—

"थोडी देर के लिए आपका यह सारा कथन मान भी ले तो भी हमारे सामने सवाल यह है कि स्वयोनि-शत्रुत्व चाहे एक विकार भले ही हों परन्तु आज वह मनुष्य-समाज में बिलकुल दृढ हो गया है। इसलिए हमें यह डर सदा बना रहता है कि मनुष्यों की कोई न कोई

टोली हमपर धावा न बोल दे। इन टोलियों पर दूसरी तरह के संस्कार करने का कोई साधन हमें प्राप्त नहीं है। उनके नेता तो उनका यह विकार बढाने की ही कोशिश करते रहते है और निर्बल टोलियों के संहार के लिए बहुत बडी तैयारी करने मे जुटे रहते है। ऐसी दशा में सिवाय बलवान हिंसक सगठन के हमारे सामने दूसरा चारा ही कौन-सा है ?"

यदि यह सवाल आज हमारे सामने व्यवहार्य रूप में उपस्थित हो जाये---यानी हमें दरअसल पूर्ण स्वराज्य हासिल हो जाये और अपने देश का भला-बुरा जो चाहे सो करने की आजादी मिल जाये---तो मै यह मानता हूँ कि देश की रक्षा के लिए मौजूदा हालत में हमे किसी-न किसी परिमाण मे हिंसक सगठन की आवश्यकता रहेगी, क्योंकि देश की रक्षा के लिए जो विशेष अहिंसक सगठन चाहिए उसकी तैयारी हम अब तक नही कर पाये है। इसलिए जिस प्रकार कांग्रेस की प्रातीय सरकारों को पुलिस की नित्य और फ़ौज की नैमित्तिक मदद लेनी पड रही है और उस रूप में हिंसक सामग्री तैयार रखनी पड रही है उसी तरह यदि आज ही स्वराज मिल जाये तो अखिल भारतीय कांग्रेस सरकार को भी--बावजूद इसके कि उसका ध्येय अहिंसक है--वही करना पड़ेगा।

लेकिन हमारे सामने आज यह प्रश्न उसके व्यवहार्य रूप में प्रस्तुत नहीं है। आज जिनपर देश-रक्षा की जिम्मेदारी है, उनका इस सम्बन्ध में इतना निश्चय है कि भले ही भारतवर्ष एक आवाज से हिंसक साधनों का निषेध क्यो न करता रहे और उस दिशा में उनके प्रयत्न में बाधा क्यों न डालता रहे, तो भी वे अपना स्वार्थ जानकर हिन्दुस्तान को विदेशी आक्रमण से बचाने के सब आवश्यक उपाय करेंगे।

इसलिए हमारे सामने यह प्रश्न आज ही समाधान के लिए उपस्थित

नही है। बल्कि इस रूप में पेश है कि भविष्य मे अगर अहिंसा से उसे हल करना हो, तो वह कहाँ तक सभव है और अगर सभव हो तो उसके लिए आज ही से कौन-से उपाय करने चाहिएँ ?

इस सम्बन्ध मे एक महत्त्वपूर्ण बात ध्यान में रखनी चाहिए। वह यह कि जितना ही किसी प्रजा का अहिंसक सगठन बलवान होगा उतना ही उसका हिंसक सगठन भी बलवान हो सकता है। अगर अहिंसा का सगठन निर्बल हो तो हिंसा का सगठन भी निर्बल रहेगा, क्योंकि जिस मात्रा मे कोई प्रजा सुसगठित, व्यवस्थित, स्वावलम्बी और एक होगी उसी मात्रा में वह दूसरी प्रजा का सामना करने के लिए सुसगठित, व्यवस्थित और एकदिल हो सकेगी। जिस प्रजा में भीतरी फूट, अव्यवस्था, परावलम्बन, बहुशाखाबुद्धि आदि दोष हो वह बलवान हिंसक सगठन भी नही कर सकेगी। अगर हिंदुओ को मुसलमानो के खिलाफ, मुसलमानो को हिन्दुओ के खिलाफ, या सारे हिन्दुस्तानियो को अंग्रेजो के खिलाफ अथवा सारे साम्राज्य को जापान, जर्मनी आदि के खिलाफ हिंसक उपाय काम मे लाने हो, तो हरएक को अपने-अपने उद्देश्य के अनुसार अपने-अपने दायरे मे——यानी सारे हिंदुओ को, सारे मुसलमानो को, सारे हिन्दुस्तानियो को या साम्राज्यान्तर्गत सारी प्रजाओ को आपस मे——सच्चे दिल से एकता करनी पडेगी। अगर हिन्दुओ मे आपस की फूट हो, मुसलमानो में भीतरी सघर्ष हो या हिन्दुस्तानियो में आपसी झगडे हो अथवा साम्राज्य की भिन्न-भिन्न प्रजाओ में अन्त कलह हो तो दुश्मन के खिलाफ बलवान हिंसक सगठन भी नहीं किया जा सकता।

मतलब यह कि जिस तरह असत्य की कोई स्वतन्त्र प्रतिष्ठा नहीं है उसे किसी न किसी सत्य के आधार पर ही खड़ा होना पड़ता है उसी

तरह हिंसक संगठन की भी कोई स्वतंत्र प्रतिष्ठा नहीं है। अहिंसक संगठन की नींव पर ही उसका निर्माण हो सकता है।

इतना तो हमें निर्विवाद रूप से मानना ही पड़ेगा कि स्वाधीनता प्राप्त होने पर अफगानिस्तान, रूस, जर्मनी, जापान वगैरा का मुकाबला करने के लिए हमें हिंसक साधनों से काम लेना पड़े या न पड़े, तो भी हमारे अपने देश का बलवान अहिंसक संगठन करना नितान्त आवश्यक है। इसके बिना न तो हम हिंसा का बलवान सगठन कर सकेंगे और न आत्मरक्षा ही।

हिंसा के सगठन से हम युद्ध का साज-सामान, फौजी तालीम और वफादार फौज—इतना *अर्थ* समझते हैं। इसमें युद्ध का साहित्य कितना और किस प्रकार का हो यह तो उस जमाने के वैज्ञानिक आविष्कारों पर निर्भर रहेगा। आखिर वह निर्जीव साधन है। वहां सवाल सिर्फ पैसे का और भंडार भरने का ही है। लेकिन फौज जीवित साधन है। इसलिए उसका उचित प्रकार से शिक्षित होना मुख्य चीज है। अगर आज्ञा पालन करनेवाले शिक्षाप्राप्त निष्ठावान सिपाही न हो तो सारे अद्यतन साधनों के होते हुए भी विजय प्राप्त नहीं हो सकती।

किसी भी देश में इस प्रकार के सैनिको की सख्या कुल जनसख्या का एक छोटा-सा अश ही होती है। लड़ाई छिड़ जाने पर भी प्रत्यक्ष युद्ध-कार्य मे लगे हुए सैनिक या सेना के साथवाले लोग बहुत नहीं होते। उनसे कई गुने ज्यादा सैनिकेतर नागरिक अपने-अपने घरों में होते हैं। वे कई तरह की असुविधाएँ सहकर और कई प्रकार का त्याग करके सारा काम चलाते हैं और सैनिकों की मदद करते हैं। सैनिक वर्ग में आम तौर पर केवल हट्टे-कट्टे नौजवान ही होते हैं, शेष सारी आबालवृद्ध जनता अहिंसक संगठन के द्वारा, लेकिन हिंसा में

श्रद्धा हो जाने के कारण युद्ध जारी रखने मे मदद करती है। खुद त्याग करके सहायता करने की आम जनता की यह तत्परता ही बहुत बडी मात्रा मे युद्ध की सफलता का कारण होती है। हिंसक युद्ध के लिए भी असैनिक जनता का यह अहिंसक सगठन अनिवार्य है।

आँकडे देखने से विदित होगा कि सौ में पच्चीस आदमी भी हिंसा के प्रत्यक्ष कार्य मे भाग नही लेते। लेकिन इन पच्चीस नौजवानो को मौका आने पर खून करने को प्रवृत्त करने के लिए हमे जनता के दिल मे यह विकार निरन्तर पैदा करना पडता है कि मानो हिंसा ही जीवन-निर्वाह की कुजी हो। सुनने में मजेदार मालूम हो, ऐसी युद्ध-कथाएँ रचकर जिन्हे हमने अपना दुश्मन मान लिया है उनके प्रति बचपन से ही द्वेष पैदा करने के लिए सच्ची और झूठी बाते गढ़ कर द्वेष-बुद्धि से ओतप्रोत वातावरण बनाना पडता है। इस सारे प्रयास का फल इतना ही निकलता है कि होनहार तरुणो का एक ऐसा छोटा-सा दल तैयार होता है जो विपक्ष के जितने आदमी हाथ उठा सकें उनके प्रति आततायी के जैसा व्यवहार करने के लिए प्रवृत्त होता है और मनुष्यों मे स्वयोनि-शत्रुत्व रूपी विकृति जीवित रखता है। यह विकृति प्रकृति विरुद्ध, नीतिविरुद्ध, और अध्यात्मविरुद्ध है।

अब मान लीजिए कि व्यापक हिंसा करने के लिए प्रजा में जिस अहिंसक सगठन की आवश्यकता है, वह सब हम अच्छी तरह कर रहे है। सारी प्रजा में एकता स्थापित करते है। आपस के धार्मिक, प्रान्तीय, जातीय और आर्थिक कलह और अन्याय निपटाते है। जनता को स्वावलम्बन से अपने सारे काम करने की शिक्षा और प्रेरणा देते है। उसे सयम और परिश्रमशीलता की आदते डालते है। एक दूसरे के लिए त्याग करने की निसर्गदत्त वृत्ति का सिचन और अनुशीलन कर उसे पुष्ट

करते है। "मनुष्य जाति को दूसरे प्राणियो की अपेक्षा स्मृति, तर्क, विवेक, भाषा आदि की जो विशेष देन मिली है उसका उद्देश्य मनुष्य-जाति के एक छोटे-से अश के भोग-विलास की सिद्धि नही है। बल्कि उसके द्वारा समग्र मानव-जाति का और दूसरे प्राणियो का भी हित-सम्पादन होना चाहिए।"—इस प्रकार के सस्कार भी देते जा रहे है तो जिस प्रकार हिंसक राज्य हिंसक सेना के लिए विकारवश जनता में से कुछ बहादुर और साहसी सिपाही पाने की उम्मीद रखते है, उसी प्रकार ऐसे सस्कारी जनता में से कुछ बहादुर, साहसी परन्तु अहिंसक सैनिक पाने की आशा क्यो न की जाये ?

'प्राणास्त्यक्त्वा धनानि च' की वृत्तिवाले बहादुरों की ज़रूरत दोनो तरह के सगठनो के लिए होगी। दोनो में स्वदेशभक्ति की ज़रूरत समान होगी। परन्तु जहाँ हिंसक फौज को, जिसे उसने अपना शत्रु माना है उस जनता के प्रति घोर द्वेषबुद्धि से विकृत होना पड़ता है, वहाँ अहिंसक सेना को शत्रु के प्रति भी करुणा तथा दया की और उसके हित के लिए त्याग करने की प्रफुल्लतर वृत्ति का विकास अपने अन्दर करना पड़ेगा। उचित पद्धति से प्रयत्न करने पर यह असम्भव क्यो माना जाये ?

शूरता सिर्फ हिंसा मे ही बसनेवाला गुण नही है। वह एक स्वतंत्रवृत्ति है। वह हिंसक मनुष्य में भी हो सकती है और अहिंसक मनुष्य में भी। हमारे देश के सतो ने यह भेद बहुत पुराने जमाने में ही जान लिया था।

सती, शूर अरु संत का, तीनों का एक तार।
जरे, मरे, सुख परिहरे, तब रीझे करतार॥
तब रीझे करतार, सबै संसार सहावे।
नहिं तो होत खुवार, हार जित सब ही जावे॥

दाखत ब्रह्मानन्द महा दृढ़ अचल मती का ।
तीनों का एक तार, शूर अरु संत, सती का ॥

६

अहिंसक संगठन की अमूल्यता

लेकिन इतने से शायद पाठक को संतोष नही होगा । वह कहेगा कि, "मान लीजिए कि सन्तो के वृन्द बनाने के अभिप्राय से आपने सिपाहियो की सेना नही बनायी । लेकिन आपकी अहिंसा-निष्ठ सेना प्रस्तुत होने से पहले ही कोई शत्रु हमारे देश पर धावा बोल दे तो देश की क्या हालत होगी ? आप तो लोगो को अहिंसा की ही सीख देते रहेगे और उनपर उसी के सस्कार करते रहेगे, तब सिपाहियत के लिए कठोरता के जिन गुणो की जरूरत है, उनका विकास कैसे होगा और ऐसी स्थिति में क्या हमारी फजीहत नही होगी ?"

थोडा विचार करने से मालूम होगा कि इस प्रकार का अन्देशा करने की वजह नही है । अहिंसक सगठन जितना दृढ होगा, उतना ही, उसकी बदौलत, मौका पडने पर, सशस्त्र फौज तैयार करना आसान होगा, न कि मुश्किल, क्योकि जनता में एकता, सहयोग, त्यागवृत्ति, स्वावलम्बन आदि गुणो का विकास हुआ होगा और जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, अनुशासनयुक्त वीरता का भी उसमें उत्कर्ष हुआ होगा । ऐसी जनता के लिए युद्ध का कर्तव्य उपस्थित ही हो जाये तो उसे सज्जित होने में देर नही लगेगी । अबतक सन्तो की सेना नहीं बन सकी, इसका इतना ही अर्थ है कि लोगो मे किसी न किसी अश में मारकवृत्ति विद्यमान है ।

इसके अलावा, सूक्ष्म हिंसा, यानी जीवनाभिलाषा, देहधारियो में से कभी पूर्णरूप से नष्ट नहीं होगी । वह अनुशासन में रह सकती है, विकृत

भी हो सकती है, किन्तु नष्ट नहीं होगी। संस्कृति की अपेक्षा विकृति में एक बड़ी भारी क्षमता यह है कि उसका वेग गुणाकार पद्धति से बढ़ता है। ऊपर चढ़ने के लिए हर कदम पर परिश्रम करना पड़ता है, शक्ति लगानी पड़ती है, लेकिन नीचे गिरने के लिए केवल एक धक्का काफी है। बाकी की सारी क्रिया उत्तरोत्तर अधिक वेग से अपने आप होती है। आवश्यकता तो उस वेग के नियमन की होती है। मतलब यह कि विकृति को अनुशासन के बन्धन की जरूरत है। सुसंगठित जनता में अहिंसा का अनुशासन थोड़ा-सा शिथिल होते ही हिंसा अपने आप जोर पकड़ती है। इसलिए अहिंसा के संस्कार की बदौलत हिंसक शक्ति नष्ट होने का अन्देशा कतई नही है।

सच तो यह है कि प्राणिमात्र को जिस वस्तु का ज्ञान अनजाने, स्वाभाविक रूप से, मिलता रहता है, उसका महत्त्व तथा उसके विकास में पायी हुई सफलता या रही हुई त्रुटियाँ, वे विचार के बिना महसूस नही करते। परन्तु जिस चीज के पीछे उन्होंने कृत्रिमरूप से बहुत मेहनत की हो उसका महत्त्व और उसमें की हुई प्रगति वे कभी नही भूलते। हम अपनी मातृभाषा बाल्यावस्था से ही अनजाने सीखते रहते है। अन्य भाषाभाषी पड़ोसी हो तो उनकी भाषा भी बोलने लगते है; लेकिन उसका महत्त्व या उसमें की हुई तरक्की का अन्दाज लगाने की हमें कभी नही सूझती। लेकिन अंग्रेजी भाषा हम बड़ी मेहनत से सीखते है, इसलिए उसका महत्त्व महसूस करते है और उसमें की हुई तरक्की भी समय-समय पर नापते है।

अबोधपूर्वक हुई प्रगति और ज्ञानवृद्धि के विषय में हमें इतना अज्ञान होता है कि उसमें बुद्धिपूर्वक प्रगति करने की बात छेड़नेवालो को कभी-कभी विरोध का सामना करना पड़ता है। जिसके दोनों पैर साबित हैं,

उसके लिए चलना, दौडना या अटारी पर चढ़ना सहज है। वह समझता है कि इसमे सीखने की कोई बात ही नही। इसलिए अगर कोई व्यायाम-विशारद यह कहने लगे कि चलना, दौडना और चढ़ना भी एक कला है, जो हमे परिश्रम से सिद्ध करनी चाहिए, तो कई लोग उसपर हँसेगे। परन्तु बिच्छूचाल चलना, तैरना, घोडे पर सवारी करना, साइकिल चलाना आदि श्रमसाध्य कलाओ का महत्त्व हमारी समझ में तुरन्त आ जाता है।

अहिसा-हिसा पर भी यही नियम घटित होता है। संसार में अहिंसा की—दूसरे के लिए खुद खपने की—एक बलवान प्रेरणा जन्तुमात्र में स्वभाव से ही है। इसीलिए अनेक प्राणी झुड बनाकर रह सकते है और दीमक, मधुमक्खी और चीटियो से लेकर मनुष्य तक अनेक जन्तु अपनी अपनी हैसियत के अनुसार व्यवस्थित समाजरचना तथा छोटी-बडी रूप-रचना भी करते है। उन सबमें नियमन, दड, शासन आदि होते है सही लेकिन यह मानना गलत होगा कि हर घडी समाज इन्ही की बदौलत चलता है। ये बातें अपवाद रूप है और जिस मात्रा में अहिसक सगठन बलवान होगा उसी मात्रा मे ये साधन कम काम में लाये जायेगे।

इन उपायो के उपयोग की आवश्यकता दवा या इजेक्शन की आवश्यकता के समान विकृति का लक्षण है। कभी-कभी विकृति सक्रामक बीमारी की तरह फैल सकती है। उस मौके पर इन उपायो को बड़े पैमाने पर और व्यवस्थित रूप में लाने की नौबत आती है। लेकिन इन कभी-कभी होनेवाली विकृतियो का इलाज करने के लिए मनुष्य-समाज ने हद से ज्यादा मेहनत की है। इसलिए उसकी ऐसी श्रद्धा हो गयी है कि विकृति का इलाज करना ही अध्यात्म है, वही धर्म है और वही विज्ञान है, वही एकमात्र जीवनकला है, समाज-व्यवस्था और राज-

कारण में वही नीति है। दण्डनीति और युद्ध-कला के बड़े-बड़े जबरदस्त शास्त्र मनुष्यो ने बनाये है।

मैं मानता हूँ कि मनुष्य ने बड़ी मेहनत और सैकड़ों साल के तजुर्बे से ये शास्त्र बनाये हैं। लेकिन यह प्रश्न अवश्य विचारणीय है कि समाज से जो दोष नष्ट करने के लिए यह उपाय-योजना करनी पड़ती है, वे दोष अबतक नष्ट क्यो नहीं होते ? कहा जाता है कि यूरोप से कोढ रोग बिलकुल मिट गया, चेचक भी जाता रहा है। इसलिए मैं यह मानने को तैयार हूँ कि जिन उपायो से ये बीमारियाँ नष्ट हुई उनमें कुछ उपाय-योजना थी। लेकिन स्वयोनि-शत्रुत्व के मर्ज पर ऐसा कोई असर होता हुआ नजर नही आता। इसलिए मेरी यह धारणा है कि इसमें कोई-न-कोई गलती जरूर है।

यह नुक्स कौन-सा हो सकता है ? हमारे समाज-जीवन की नींव ही, जिसपर हमने यह सारा हिंसक संगठन का ढाँचा खड़ा किया, कमजोर है। उसपर इमारत बनाने के पहले जितनी मेहनत ली गयी, जिन पत्थरो से उसे पाटा गया और जिन तत्त्वों से उन पत्थरो की जुड़ाई की गयी——वह सारा सामान रद्दी था, उसका वैज्ञानिक शोध भी ठीक-ठीक नही हुआ। उसपर मेहनत तो बहुत ही कम ली गयी। फल-स्वरूप जिसप्रकार नालन्दा के विश्वविद्यालय की इमारतों की अटारियो और ऊपर के हिस्सो में भव्य और विशाल रचना होते हुए भी नींव की जमीन ही कच्ची होने के कारण कई बार इमारते बनाने पर भी वे सब निकम्मी ठहरी और उनको छोड देना पड़ा। उसीतरह हमारी समाज-रचना तथा सस्कृति का बाह्यरूप भव्य और शोभनीय दिखायी देता है; लेकिन ज्योंही वह पूर्णता को पहुँचना चाहता है, त्योंही अपने ही बोझ से दबकर ढह जाता है।

इसलिए हमें सस्कृति की बुनियाद का ही विचार करना चाहिए और उसीका शास्त्र पहले सीखना चाहिए। और अच्छी तरह समझ लेना चाहिए कि समाज-रूपी मदिर की सुरक्षितता उसके अहिंसक संगठन पर निर्भर है न कि हिंसक सगठन पर। हरएक आदमी चल और दौड सकता है, लेकिन फिर भी चलने दौडने का एक खास शास्त्र है ही। उसी तरह प्राणिमात्र की कुदरती अहिंसा-वृत्ति का शास्त्रीय ढग से अनुशीलन होना और समाज-रचना में उसका शास्त्रीय ढग से सगठन होना जरूरी है। उसपर बनायी हुई इमारत भले ही देखने में सीधी-सादी लगे तो भी वह टिकाऊ और सुखदायी होगी, लेकिन कच्ची बुनियाद पर बनी हुई खूबसूरत लगनेवाली इमारत न तो मजबूत होगी और न आरामदेह।

चश्मा, बूट-सूट, बेत और अपटूडेट वेष-भूषा से सजे हुए किसी चिररोगी युवक के विषय मे यह कहना कि वह सलोना दीखता है, विरूप को सुरूप कहने के बराबर है। उसी प्रकार मनुष्यो की हिंसा पर मनुष्यो ने जिस समाज-रचना का निर्माण किया है, उसे सस्कृति के नाम से पुकारना विकृति को ही सस्कृति मानना है।

सब प्राणियो में हिंसावृत्ति भी है ही। जीवनाभिलाषा का ही वह दूसरा नाम है। लेकिन उसका इलाज हिंसात्मक सगठन नहीं बल्कि शास्त्र-शुद्ध अहिंसात्मक सगठन है। उचित उपायो और उचित ढग से हरएक को जीवननिर्वाह का सुयोग मिले तो यह हिंसा-वृत्ति सतुष्ट हो जाती है। किसी व्यक्ति मे एकाध मर्ज की तरह, या बाज दफा, सारे समाज में छूत की बीमारी की तरह, वह फट पडे तो उसका निवारण करना चाहिए। लेकिन ऐसा करने में भी ऊपर-ऊपर के उग्र उपचार करने की अपेक्षा, 'व्यक्ति अथवा समाज की नीव में कहाँ कमजोरी पैदा हो गयी है'—इसी की धैर्य से खोज करनी चाहिए।

७

वीरता और अहिंसा

हम लोगों में इस वहम ने घर कर लिया है कि हिंसावृत्ति और शूरता एक ही गुण है और हिन्दुस्तान मे अहिंसा पर ही बेहद जोर दिया गया, इसलिए वह पराधीन होता गया।

मैं ऊपर कह चुका हूँ कि हिंसा और शौर्य ये दोनों बिल्कुल भिन्न वृत्तियाँ हैं। कोई जीव हिंसक होकर भी कायर हो सकता है और अहिंसक होकर भी बहादुर हो सकता है। बहुधा ऐसा देखा गया है कि जहाँ हिंसा होती है वहाँ भय भी है। जिसमें स्पष्ट साहसिकता है ऐसी शूरता शायद अहिंसा के साथ हमेशा न पायी जाये। लेकिन वह अहिंसा के साथ होती ही नही ऐसी बात नही है। हिंसा, अहिंसा, साहस, शौर्य आदि एक वृत्ति के रूप में मनुष्य में सहज हैं। लेकिन गुण के रूप में वे मेहनत के साथ किये हुए अनुशीलन से ही प्रकट होते हैं।

यह कोई नही साबित कर सकता कि हमारे देश में किसी भी जमाने में वीरता का गुण बहुत कम रहा हो। कम-से-कम खास जातियों ने निरन्तर परिश्रमपूर्वक उसका विकास किया। लेकिन अहिंसा—विशेष-कर संगठित सामाजिक अहिंसा—के गुण की कमी हमेशा पायी गयी है। चाहे महाभारत-काल का, चाहे राजपूतो का, चाहे मुगलो का, चाहे सिक्खों या मराठो का इतिहास ले लीजिए। आप यही पायेंगे कि अश्वत्थामा-कर्णविवाद, शल्य-कर्ण विवाद, जयचन्दी फूट की परम्परा अविच्छिन्नरूप से चली आयी है। कुरुक्षेत्र के युद्ध से लेकर पानीपत के युद्धतक सेनापति के मरने पर सेना मे अन्धाधुन्धी, आपस में लड़ाई और अन्त में पलायन—यही हमारा इतिहास रहा है। इसमें व्यक्ति की हैसियत से सेनापति या सैनिकों में वीरता का अभाव नहीं दिखायी देता। बहादुरी

और हिम्मत की कमी नही है। परन्तु प्रेम, अनुशासन और कर्तव्यबुद्धि की व्यापकता तथा उनका सगठन बिलकुल नदारद है।

वह नेताओं में ही नही है, इसलिए जनता में भी नही है। बुद्धि-भेद और वैमनस्य पैदा करनेवाला तर्ककौशल सदा सुलभ रहा है। लेकिन सबसे मेल करनेवाली बुद्धि और कर्मकौशल सदा दुर्लभ रहा है; क्योकि हमारे अन्दर आम तौर पर अहिंसा एक असंस्कृत और मूढवृत्ति के रूप मे होते हुए भी उसका सामाजिक अनुशीलन कभी नही किया गया।

हम बड़े गर्व से कहते है कि हमारे देश मे 'अहिंसा परमोधर्म' 'सत्यमेव जयते' आदि घोष (नारे) विद्यमान है। हमारे सन्तो ने ब्रह्मचर्य, सयम, इन्द्रियनिग्रह, आत्मानात्मविवेक, भूतदया, वैराग्य आदि का बार-बार और जोर से उपदेश किया है। इसलिए साधारण रूप से हमारी ऐसी धारणा हो गयी है कि हमारी आध्यात्मिक सस्कृति देश-व्यापी है। कोई-कोई तो ऐसा भी मानते है कि हमने इन गुणो का अतिरेक ही कर डाला है।

लेकिन इन उपदेशो का एक दूसरी दृष्टि से भी विचार किया जा सकता है। जो गुण किसी समाज मे व्यापक रूप में पाये जाते हो, उनका बार-बार उपदेश करने की प्रवृत्ति साधारणत नही होनी चाहिए। जिन गुणो का समाज में अधिक अनुभव नही होता, मगर जिनकी आवश्यकता तो प्रतीत होती है, उन्ही पर उपदेशक जोर देगा। उपर्युक्त गुणो का सन्तो ने निरन्तर उपदेश दिया, इसका यही कारण हो सकता है कि उन्होने समाज में इन गुणो का अस्तित्व पर्याप्त परिमाण मे नहीं पाया। यह उपदेश करनेवाले सन्तो ने दूसरी भी कुछ बातें समय-समय पर कही हैं। उन्होने कहा है कि "संसार स्वार्थमय है, हमारे आत्मीय और सगे-सम्बन्धी सभी अपना-अपना स्वार्थ देखते है, कोई किसी का नि स्वार्थ

आप्त नही है।" इससे यह पता चलता है कि उन्हे जीवन में क्या अनुभव होता था, पारमार्थिक चित्तवालों के लिए उस वृत्ति के विकास के रास्ते में हमारा समाज कौन कौन-सी कठिनाइयाँ उपस्थित करता था और इसलिए सबका त्याग करना ही एकमात्र मार्ग क्यों समझा गया ?

इसके विपरीत हमें उन गुणो का भी विचार करना चाहिए जो हममें नही थे और न जिनके लिए हमारी भाषा में कोई शब्द ही थे। बल्कि जिनके समान वृत्तियो का हमारे सन्तों ने निषेध भी किया। उदाहरण के लिए, 'स्वदेशभक्ति' या 'स्वदेशाभिमान' शब्द हमारे पुराने साहित्य में नही पाये जाते। वर्णाभिमान, जात्यभिमान आदि का सन्तो ने प्रबल निषेध किया है, क्योंकि इस देश मे ऐसा विरला ही कोई रहा होगा जो अपनी भूमि से प्रेम न करता हो। अपना खेत, अपना गाँव या अपना प्रान्त छोडने की वृत्ति हममें बड़ी मुश्किल से पैदा होती है। इनसे बिछुड़ने मे हमे अत्यधिक दुःख होता है।

किसानो मे तो इतना जबरदस्त भूमिप्रेम पाया जाता है कि खेत की कानूनी मालकियत से हाथ धो बैठने पर भी उसपर अपना कब्जा जमाये रखने के लिए वे अपनी जान लड़ा देंगे। हमारा वर्णाभिमान और जात्यभिमान तो मशहूर ही है। स्मृतिकारो ने उसका इतना जबर-दस्त शास्त्र बना रखा है कि बुद्ध और महावीर से लेकर आजतक हर-एक सन्त के उसकी निन्दा करने पर भी, हमारे समाज से उसकी प्रबलता नष्ट नही हुई।

बुद्ध से लेकर गाधी तक इस देश में जो महान् प्रवर्तक हुए उन सबने साधारण जनता के लिए पाँच ही नियम बतलाये है।—चोरी न करो, व्यभिचार न करो, शराब न पिओ, मास न खाओ, झूठ न बोलो। इन पाँच में से मास का निषेध करने की तो आज किसी की हिम्मत ही

नही होती। और अगर कोई हिम्मत करे भी तो उसकी कोई मानेगा नही। लेकिन इसपर से कि ढाई हजार वर्षों से हमें लगातार इन पाँच ही नियमो का उपदेश करना पड़ रहा है, हमारी सर्वसाधारण सस्कृति के रूप का पता चलता है।

मतलब यह कि, अहिंसा, ब्रह्मचर्य, अस्तेय आदि के विषय में हमारे देश में विपुल साहित्य और प्रचुर उपदेश उपलब्ध हैं। इससे यह अनुमान करना गलत होगा कि सत्त्वगुणसपन्न सम्पत्ति हमारी जनता की प्रकृति ही है। इतना ही कहा जा सकता है कि हमारी प्रकृति को इन गुणो द्वारा सस्कृत करने का प्रयास सैकडो वर्षों से हो रहा है। अनेक महापुरुषो ने इसके लिए अपनी सारी उम्र बिता दी। लेकिन फिर भी यह नही कहा जा सकता कि हमने कोई विशेष प्रगति की। कारण यह कि उनके कार्य में विकृतिग्रस्त लोगो ने विघ्न डालने मे कुछ उठा नही रक्खा। तथापि अहिंसा-प्रेरित मनुष्य उस प्रयत्न को छोड नही सकते।

८

वास्तविक आवश्यकता

"अगर जर्मनी या जापान का आक्रमण हो जाये तो हम कौन-सा अहिंसक इलाज करें यह आज ही बतलाओ।"——ऐसा प्रश्न अप्रासगिक है। आज हमारे सामने जो प्रश्न उपस्थित है वह तो यह है कि "अंग्रेजो के और हमारे बीच परतन्त्रता का जो बन्धन है वह कैसे काटा जाये, और हम स्वाधीन किस तरह बनें ?" हिंसावादी भी यह महसूस करते है कि इसका कोई व्यवहार्य हिंसक उपाय अबतक प्राप्त नहीं हुआ है। यह उन्हे भी हमारी अहिंसा शुद्ध भले ही न रही हो, लेकिन मानना पड़ेगा कि जैसी कुछ अशुद्ध और स्थूल अहिंसा का हमने प्रयोग किया उसकी बदौलत हमें थोडी बहुत सफलता भी मिली। इसलिए

व्यवहारचातुर्य तो इसी मे है कि समझदार लोग हिंसा के बाल की खाल निकालने के बदले अहिंसा के सेनापति के बतलाये हुए तरीक़े से उसे शुद्ध और सगठित करने की कोशिश मे जुट जाये।

अगर हम आजादी चाहते है तो सारा देश एक होना चाहिए। जात, पाँत, वर्ण, धर्म और प्रान्त के द्वेष नष्ट होने चाहिएँ, प्रजा का आन्तरिक व्यवहार न्याय और नीति के अनुसार चलना चाहिए। बलवानो को निर्बलो के लिए खपना चाहिए। उनके शोषण से बाज आना चाहिए। हरएक को पेटभर रोटी, शरीर-भर कपडा और आरामभर मकान मिलने का प्रबन्ध करने में सारे समझदार लोगो को एकमत हो जाना चाहिए। यह सब जुटाने करने के लिए व्यक्तिगत तथा समाजव्यापी अहिंसा की, यानी दूसरे के लिए सन्तोष, कर्त्तव्यबुद्धि और प्रेम से खपने की आवश्यकता है, न कि हिंसा या द्वेष की, जरूरत नि:स्वार्थबुद्धि की है, न कि स्वार्थबुद्धि की। सर्वव्यापी ममता की है, न कि तग दड़बो में बन्द किये हुए अह-ममत्व के भाव की।

यदि हम अपने जीवन तथा सस्कारो में इस प्रकार की क्रान्ति कर सके तो जर्मनी या जापान के आक्रमण से अपना बचाव करने की अहिसक योजना भी हमें अपने आप सूझ जायेगी, क्योंकि यह क्रान्ति तो अहिसा के अनुशीलन से ही हो सकेगी। तबतक आज कितना ही सिर क्यो न खुजायें, तो भी वह तरीका नही सूझेगा। जो कुछ सुझाया जायेगा वह अबोध कल्पना में शुमार होगा; क्योंकि उसको सुझाने के लिए जिस पूर्व-परिस्थिति की आवश्यकता है, वही आज नहीं है। आज बेतार के तार से एक क्षण में एक शब्द सारे ससार में भेजा जा सकता है। अब अगर कोई पूछ बैठे कि फर्ज कीजिए कि शब्द के समान एक विनाशक किरण भी दुनिया भर में फैलायी जा सके तो उससे अपनी

रक्षा का कौन-सा उपाय किया जाये ?—तो समझदार वैज्ञानिक इतना ही जवाब दे सकेगा कि पहले उस तरह का यन्त्र तो बनने दो, तब मेरे दिमाग़ मे विचार आने लगेगे ।

आज हिसक साधनो से हम अपनी रक्षा करते है । लेकिन उसके लिए हमारे पास कितनी सेना है, किस किस्म की कितनी तोपें, वायुयान, ज़हरीली वायु के गोले, मास्क आदि साधन है, वे कहाँ-कहाँ रक्खे गये हे, अच्छी हालत मे हैं या नही ?—इसकी चर्चा या जाँच-पड़ताल हम कहाँ करते है ? हिन्दुस्तान के सरकारी सेनापति से इस सम्बन्ध में कितनी जानकारी मांगते हैं ? हम तो यही मानते है कि जो लोग युद्धकला के विश्वासपात्र विशेषज्ञ है वे उचित प्रबन्ध करेगें ही, और इस विश्वास से युद्ध के दिनो मे भी निश्चिन्त होकर सोते है ।

अगर अहिसा के क्षेत्र में भी इसी प्रकार हमारी एक विशेष साधना हो जाये तो क्या उसके भी कुछ विशेषज्ञ पैदा नही होगे ? हमारे देश मे अहिंसाधर्म में प्रवीण और अहिंसा से जनता की रक्षा कर सकने का आत्मविश्वास रखनेवाला जो वीरपुरुष होगा उसीको हम अपना युद्धमत्री बनायेंगे और उसकी सूचनाओ पर चलेगे । तात्पर्य यह कि, 'जर्मनी के खिलाफ अहिंसक योजना क्या हो ?'—यह सवाल उतना महत्त्व नही रखता जितना महत्त्व यह सवाल रखता है कि हम अपने नित्य के जीवन के छोटे-बड़े कलह अहिसा से किस प्रकार मिटायें ? अगर दो आदमियो में युद्ध करने के शास्त्र, का आविष्कार हो जाये तो सैकडो और लाखो की लडाई का शास्त्र भी खोजा जा सकेगा । यही नियम अहिंसा पर भी लागू है ।

अन्त में "गाधी-विचार-दोहन" से इस सम्बन्ध में दो परिच्छेद उद्धृत करके यह लम्बा लेख समाप्त करता हूँ :—

"अहिंसा में तीव्र कार्यसाधक शक्ति भरी हुई है। इस अमोघ शक्ति की अबतक पूरी-पूरी खोज नही हुई है! 'अहिंसा के समीप सारे वैर-भाव शान्त हो जाते है',—यह सूत्र शास्त्रो का कोरा पाडित्य ही नहीं है, बल्कि ऋषियो का अनुभव-वाक्य है। इस शक्ति का सम्पूर्ण विकास और सब अवसरो और कार्यों मे इसके प्रयोग का मार्ग अबतक स्पष्ट नहीं हुआ है। हिंसा के मार्गों के संशोधनार्थ मनुष्य ने जितना सुदीर्घ उद्योग किया है और उसके फलस्वरूप हिंसा को बहुत बड़े परिमाण में एक विज्ञानशास्त्र-सा बना दिया है; उतना उद्योग यदि अहिंसा-शक्ति के सशोधन में किया जाये, तो मनुष्यजाति के दु खो के निवारणार्थ यह एक अनमोल, अव्यर्थ तथा अन्त मे उभय पक्षो का कल्याण करनेवाला साधन सिद्ध होगा।

"जिस श्रद्धा और अध्यवसाय से वैज्ञानिक प्रकृति के बलों की खोज-बीन करते है और उसके नियमो को विविध रूप से व्यवहार में लाने का प्रयत्न करते है, उतनी ही श्रद्धा और अध्यवसाय से अहिंसा की युक्ति का अन्वेषण तथा उसके नियमो को व्यवहार में लाने का प्रयत्न करने की आवश्यकता है।"[१]

---

१. 'गांधी-विचार-दोहन' : 'अहिंसा' १०, ११

: ४ :

सामाजिक अहिंसा की बुनियाद

१

अहिंसा या बनियागिरी ?

१९३०-३२ के सत्याग्रह के दरमियान तथा बारदोली आदि के सत्याग्रह में लोगो ने अहिंसक वीरता के जो सबूत दिये, उनकी तारीफ सुनकर एक मित्र बोले, "जबतक हम यह तारीफ सिर्फ विदेशी लोगो को सुनाने के लिए करते है, तबतक तो ठीक है। लेकिन जब हम अपने घर मे बैठकर बातें करते है, तब मेहरबानी करके इस वीरता की सराहना न कीजिएगा। सच पूछिए तो लडाई में जिस प्रकार की बहादुरी की जरूरत होती है, उसका आपको खयाल ही नहीं। उदाहरणार्थ, चारो तरफ दुश्मन के विमान (हवाई जहाज) मँडरा रहे है, ऐसी हालत मे एक नौजवान अपना विमान लेकर अकेला उनके बीच घुसा चला जाता है। और यह जानते हुए भी कि उसका जिन्दा वापस आना नामुमकिन है, केवल शत्रु के एक या दो विमानो के नाश करने की आशा से ही वह इतना साहस करता है। अथवा, जिस बहादुरी से सबमेरीन (पनडुब्बी) में डुबकी लगाता है, उसकी बहादुरी के साथ आपके धारासणा के 'वीर' पुरुषो का क्या मुकाबला करे ? आज हमारे देश में से कितने नौजवान सबमेरीन या विमानी सैनिक की सिर्फ तालीम लेने के लिए भी तैयार होगे ? दूसरे के बदन से खून निकलता हुआ देख बेहोश हो जानेवाले हम ब्राह्मण और बनिये अहिंसक वीरता तक पहुँच गये, इसका इतना ही मतलब समझना चाहिए कि हम कायरता से सिर्फ एक कदम आगे बढे है।

"अशोक की तरह से जो लोग हिंसात्मक जीवन में से अहिंसा की

ओर गये, उन जैसे अगर आप भी क्षत्रिय होते तो आपकी अहिंसा मुझे अद्भुत लगती। लेकिन जिस अहिंसा की आज आप तारीफ कर रहे हैं, वह सिर्फ आपकी हिंसा-शक्ति के अभाव का उपनाम है। मुझे शक है कि जब हिंसा का स्वाद आपको मिलेगा तब आपकी यह अहिंसा कहाँ तक टिकेगी ?"

स्वय गान्धीजी के बारे मे भी इसी प्रकार की शंका दूसरे रूप में प्रगट की गयी है। हाल ही में सर स० राधाकृष्णन् द्वारा सम्पादित 'गान्धी-अभिनन्दन ग्रथ' में श्री एडवर्ड टामसन लिखते है.—

"वह गान्धी गुजराती हे अर्थात् ऐसी जाति मे उत्पन्न हुए है जो युद्धप्रिय नही रही है और जो विशेषतया मराठो द्वारा बहुधा पददलित की गयी और लूटी गयी है।...वह अहिंसा को जो इतना महत्त्व देते हैं, वह उनके एक शान्तिप्रिय जाति में जन्म लेने का लक्षण है। मेरा विचार है कि मराठे इस बात को कभी नही भूलते कि वे मराठे है और गाधी गुजराती हे। राजपूतो के बारे मे भी यही बात कही जा सकती है, क्योंकि वह भी एक युद्धप्रिय जाति है।"

यह दलील बलिक उलाहना मैने पहिली बार नही सुना, इसलिए मैने खुद अपने आपसे यह प्रश्न कई बार पूछा है, कि गाधीजी जिस अहिंसा का प्रचार कर रहे हे और जो मुझ जैसे अनेक लोगो को मानो स्वभाव ही से पसन्द आती है, और हिंसा के प्रति जो घृणा पैदा होती है, यह क्या मुझमें जन्मतः रही हुई बनिये की डरपोक वृत्ति तथा वैष्णव सस्कारो का परिणाम है, या अहिंसा का——यानी मैत्री, प्रेम, करुणा आदि कोमल गुणो का——परिपाक है ?"

कुछ हद तक इस सवाल पर मन्थन करने के बाद में जिस नतीजे पर पहुँचा हूँ वह प्रस्तुत करता हूँ।

यह तो मैं बिना संकोच के स्वीकार करूँगा कि युद्ध-विरोध अथवा शान्तिप्रियता कई पीढ़ियो से मेरा खून के द्वारा उतरा हुआ स्वभाव है। उसके अनुशीलन के लिए, स्वय मुझे अशोक के जैसे अनुभवो में से जाने की या बुद्धि को बहुत कसने की जरूरत नही हुई। मेरे जिन पूर्वजो ने सैकडो वर्ष पूर्व हिंसक विचारो को छोडकर बौद्ध या जैन या वैष्णव सप्रदाय को स्वीकार किया होगा, वे बेशक इरादतन हिंसा से अहिंसा की ओर गये होगे। अनेक पीढ़ियो तक अपने इस परिवर्तन को हृदय मे दृढ करते-करते मेरे इन पूर्वजो ने अहिंसावृत्ति की जड अपने स्वभाव में इतनी मजबूत जमा दी कि बाद मे वह मेरे लिए एक हद तक अपने प्रयत्न से प्राप्त करने की सम्पत्ति नही रही बल्कि पूर्वजोपार्जित सम्पत्ति के रूप में मुझे विरासत मे मिली।

परन्तु सम्पत्ति पूर्वजोपार्जित होने ही से वह कोई कुसपत्ति या विपत्ति तो नही हो जाती, और न उसमे शरमाने जैसी ही कोई बात होती है। हमारे लिए अपनी कोशिश से उस सम्पत्ति को बढ़ाना शक्य है। वैसा न किया जाये तो दूसरी भौतिक सम्पत्तियो की तरह यह भी क्षीण हो सकती है, और जिस तरह पुरखो के जमाने का बर्तन धीरे-धीरे घिस-घिसकर फूट जाता है और फिर वह सिर्फ एक स्मारक का काम देता है, उसी तरह यह भी एक क्षीण और दुर्बल सस्कार बनकर रह सकता है।

तब मेरे लिए गौर करने का सवाल यह है कि, क्या मे इस सहज-प्राप्त स्वभाव का ही अधिक विकास करूँ, या फिर से उस हिंसक स्वभाव को प्राप्त करने की कोशिश करूँ जिसका उसे एक कुसम्पत्ति समझकर मेरे पूर्वजो ने सोच-समझकर त्याग किया था? क्या हिंसा से अहिंसाकी ओर जाने में मेरे पूर्वजो ने कुछ अमानुषिकता (गैरइंसानियत) की?

यह सच है कि कुछ लोगो का ऐसा ही खयाल है। वे मानते हैं

कि आज एक ऐसा जमाना आया है कि जिसमें हिन्दुस्तान या दूसरी किसी भी कौम का उद्धार हिंसक बनने से ही हो सकता है। लेकिन कोई भी मानव-हितचिंतक इस विचार का नहीं है। हिंसा में रही हुई भीषण पशुता को पूजनेवाला वर्ग इना-गिना ही है, हिन्दुस्तान में भी उनका क्षेत्र साफ नष्ट नहीं हुआ है। आज भी हिन्दुस्तान में लड़ाकू जातियाँ है। कई लोगो का कहना है कि जिनमे लड़ाई की वृत्ति और कला है ऐसे लोगों के अभाव और न्यूनता के कारण ही हिन्दुस्तान परतन्त्र हुआ। लेकिन इस कथन में कुछ भी ऐतिहासिक सत्य नहीं है। इसलिए हिंसा द्वारा देश का उद्धार करने के सम्प्रदाय की तरफदारी के लिए कोई जोरदार कारण नहीं है। सच्चा रास्ता तो आज भी वही है जो सदियो पहले हमारे बडो ने बताया था। वह है--'खून न करो', क्योंकि 'अहिंसा ही परम धर्म है।'

मतलब यह कि उन वश और सस्कार द्वारा प्राप्त अहिंसावृत्ति के लिए शरमाने की कोई वजह नही। बल्कि जन्म ही से यह विरासत पाने के लिए ईश्वर और अपने पूर्वजो के प्रति कृतज्ञता भाव रखने के लिए पर्याप्त कारण है।

फिर भी मुझे यह भी कबूल करना होगा कि मेरे अहिंसक स्वभाव के के साथ मुझमे बहुत-सी कमियाँ भी पैदा हो गयी है। वे ऐसी है कि ऊपर-ऊपर से वे अहिंसावृत्ति का ही परिणाम मालूम होती है। डरपोक-पन और शारीरिक साहस करने की हिम्मत का अभाव इन कमियो में मुख्य है। हिंसक आहार-विहार तथा जगल के नजदीक की बस्ती मे इन कमियो को दूर करने के कुदरती मौक़े मिल जाते है। शिकार और लडाई-झगडो के बीच ज़िन्दगी बितानेवाले स्त्री-पुरुष अपना या दूसरे का रक्तपात देखने के बचपन से ही आदी हो जाते हैं। उस तरह का साहस

उनका रोज का जीवन हो जाता है। उनके लिए डरपोकपन और असाहस शरमाने योग्य चीजें हो जाती है, और उनके समाज में वैसे व्यक्तियो का तिरस्कार होगा। लेकिन ब्राह्मण-बनियो के समाज में अगर कोई आदमी हिम्मत करके अपना हाथ तोड ले या खतरे की जगह दौड़ कर चला जाये तो उसकी हिम्मत के लिए उसका जयकार नहीं किया जायेगा। बल्कि उससे कहा जायेगा कि क्यो इतनी बेवकूफी करने गये ? इन समाजो में बच्चो को हौए और अँधेरे के डर मे, और 'अरे गिर जायेगा' 'अरे, लग जायेगा' जैसी सावधानी की सूचनाओ के साथ ही बढ़ाया जाता है। इसका परिणाम यह हुआ है कि हमारा यह समाज कुछ का पुरुष सा बन गया है। इसमे शक नही कि यह बडी शरम की बात है।

परन्तु हम ठीक-ठीक सोचेगे तो पता चलेगा कि ये कमियाँ अहिंसा का आवश्यक परिणाम नही है। हमारे पूर्वजो ने अहिंसा को स्वीकार किया यह तो अच्छा ही किया, लेकिन उस वक्त उन्हे यह बात न सूझी, और उस जमाने में सूझ भी नही सकती थी, कि जिस तरह हिंसक आहार-विहार के साथ साहस और शौर्य्य आदि गुणो का पोषण होता है और उनके संगठन का शास्त्र निर्माण होता है, उसी तरह अहिंसक जीवन के अप्रतिकूल तरीको से इन्ही गुणो के विकास के निमित्त इनके संगठन का शास्त्र भी खोजना होगा।

इसे कुछ विस्तार से समझ लेना चाहिए।

२

अहिंसा की वैज्ञानिक शिक्षा

अगर हम युद्धो के इतिहास बारीकी से पढे तो मालूम होगा कि किसी भी लड़ाई में जीवन के लिए सिर्फ सिपाहियो की बड़ी संख्या, उनकी व्यक्तिगत बहादुरी और लड़ाई का अच्छे-से-अच्छा सरजाम

काफी नही है। जीत के लिए एक बहुत ही महत्त्व की बात है सैनिकों का सगठन। युद्ध की परिभाषा मे उसे उम्दा फौजी तालीम, कुशल सेनापतित्व और चतुर व्यूह-रचना कहा जायेगा। एक ओर बड़ी बहादुर और अच्छी तरह से साधन-सम्पन्न, मगर बिना तालीम और बिना सेनापति की दस हजार सिपाहियो की सेना हो, और दूसरी तरफ एक हजार ही सिपाहियो की फौज हो पर वह अच्छी तालीम पायी हुई और कुशल सेनापति के नेतृत्व मे हो तो इतिहास मे ऐसे कई उदाहरण पाये जायेंगे कि जहाँ छोटी सेना ने बड़ी सेना को हरा दिया। हिन्दुस्तान में कितनी ही लडाइयो मे इन्ही कारणो से अग्रेजो की जीत हुई थी। फिर बहादुरी भी कोई व्यक्तिगत गुण नही है। 'प' 'फ' 'ब' 'भ'—सभी थोडे-थोडे बहादुर भले ही हो लेकिन अगर वे चारो लडाई की तालीम प्राप्त करें और कुशल सेनापति के नेतृत्व में एक होकर लड़ें तो उनकी बहादुरी का जोड सिर्फ चौगुना ही नही बल्कि कई गुना हो जायेगा। इसके विपरीत वे व्यक्तिगत रूप से बड़े ही शूर-वीर क्यो न हो फिर भी अगर हरएक आदमी अपने घमण्ड के खुमार में रहकर ही लडना पसन्द करे तो व्यक्ति के नाते बढ़िया पराक्रम दिखाने पर भी वे हारेंगे, और उनका कुल पराक्रम पहले चार की अपेक्षा कम होगा। शायद एकाध उसमें से निराश भी हो जायेगा। मतलब यह है कि इस तरह हिंसा का भी एक विज्ञान है और उसके अनुकूल उसका विकास करना पड़ता है। सब लड़ाकू जातियाँ इस बात को अच्छी तरह समझती है और इसीलिए तरह-तरह के उपायो से युद्ध-विज्ञान का विकास करने के लिए सैकडों वर्षों से मेहनत उठायी गयी है।

जिस तरह एक हिंसापरायण समाज में बचपन से ही लोगो में हिंसक वृत्ति पैदा करने, बड़ी उम्र में लड़ाई की तालीम देने और युद्ध

के समय उन्हे सगठित करने की जरूरत होती है, और इसलिए उसका व्यवस्थित शास्त्र बनाना पडता है, उसी तरह एक अहिंसा-परायण समाज को भी अपने लोगो में बचपन से अहिंसावृत्ति का पद्धतिपूर्वक विकास करने, उसकी तालीम देने और जब-जब प्रसग उत्पन्न हो तब-तब उन्हे संगठित करने की जरूरत है। परन्तु यह बात अहिंसको के ध्यान मे भली भाँति आयी नही है। उल्टे अहिंसा-धर्मी ने आमतौर पर एकाकी और निवृत्तिमय जीवन बिताना ही पसन्द किया है। निवृत्ति में नम्रता, अभिमानशून्यता, अपमान, बलात्कार आदि की जानबूझकर तितिक्षा इत्यादि अहिंसा-पोषक वृत्तियो को बढाने का प्रयत्न ज्यादा आसान होता है। प्रवृत्तिमय जीवन में यह साधना कठिन होती है। इसलिए योग्य तालीम के अभाव मे जब प्रवृत्तिमय जीवन बितानेवाले अहिंसक लोग इन वृत्तियो के अनुकूल बर्ताव करने लगें, तब उससे कुछ विपरीत परिणाम निकले। इन विपरीत परिणामो को हम 'बनियागिरी' के तिरस्कारसूचक नाम से पुकारते है। इस शब्द से जिससे शरीर को भय हो वैसे किसी भी प्रकार के साहस के प्रति अरुचि, भय-स्थानो का दूर ही से त्याग, शरीर और सम्पत्ति बचाने के लिए चाहे जितनी अपमान-जनक स्थिति मे रहने की तैयारी वगैरा कायरता के गुणो का समावेश किया जाता है। निवृत्ति मे रहनेवाला अहिंसक यह चिन्ता करता है कि दूसरो की हिंसा न हो, लेकिन प्रवृत्ति मे पड़ा हुआ अहिंसा-धर्मी खुद अपने शरीर की हिंसा न हो, इस रीति से अपनें जीवन की रचना करता है। भय से दस कोस दूर रहकर ही वह अपना अहिंसा-धर्म सँभालता है। इसका नतीजा यह हुआ कि अहिंसक को चाहे जो तमाचा जड दे, गालियाँ दे दे या लूट ले, वह 'बेचारा' बनकर चुप रहता है।

मगर ऐसा स्वभाव होते हुए भी प्रवृत्ति-परायण अहिंसा-धर्मी को

ससार में टिकने की इच्छा तो है ही। इसलिए बाहर मे अहिंसा का त्याग किये बिना सूक्ष्म हिंसा करने की कुछ रीतियां उसने खोज की है। खेती, गोपालन और (विशेषकर) व्यापार के द्वारा धन बढ़ाने की कला में उसने निपुणता प्राप्त की है। और उसमें हिंसा का गुमान करने-वाले को उसके मिथ्याभिमान द्वारा ही मिठास के साथ लूटने, बिना खून बहाये ही खून चूसने, कुटिल नीति से परास्त करने, और व्यक्तिगत कम-खर्ची और हिसाबी दान करने की युक्तियां निकाली हैं। इन सबका भी बनियागिरी में समावेश होता है। इस प्रकार की बनियागिरी का आभास देनेवाली बहुत-सी लोककथाएँ भी हैं। मतलब यह कि 'बनिया-गिरी' शब्द कायरता और चालाकी का मिलाप बताता है। ये सब अहिंसा के व्यवस्थित विकास के अभाव के परिणाम हैं।

इसका हमें सशोधन करना होगा और जो लोग स्वभाव से, धर्म के सस्कार से, अपनी सारासार विवेक-बुद्धि से या आखिर दूसरो द्वारा जबरदस्ती ही नि शस्त्र किये जाने से अहिंसक बनकर रहे हैं, उन्हें अपनी उस अहिंसा का एक बल के रूप में परिवर्तन करने का विज्ञान निर्माण करना होगा। चैतन्य का यह स्वभाव ही है कि वह चाहे जितनी कठिन परिस्थिति में मूल स्वभाव को बिना छोड़े अपना स्वत्व बराबर बनाये रखने की, अपना सम्पूर्ण विकास सिद्ध करने की और अपने ध्येय को प्राप्त करने की अचूक पद्धति खोज ही सकता है। इस शोध मे अपने मुख्य स्वभाव पर बिल्कुल दृढ़ रहने के बजाय यदि वह उसे बदलने और दूसरे किसी स्वभाव को व्यर्थ अप-नाने की चेष्टा करता है, तो उतनी हदतक उस खोज में वह निष्फल होता है। चाहे आप डार्विन का 'उत्क्रान्ति-शास्त्र', क्रोपाटकिन का "सघर्ष या सहयोग", मैटरलिंक का 'दीमक' या 'मधुमक्खी का जीवन'

पढ़ें या किसी भी प्राणी के जीवन का अवलोकन करे, आप यही पायेंगे कि चैतन्य की इस शक्ति के द्वारा ही इस ससार में विविध योनियो के जीव अपना-अपना जीवन बिता रहे है। जो लायक हो वह जीवे (सर्वाइवल ऑव द फिटेस्ट) का मतलब जो शरीर से बलवान हो, वही जी सकता है इतना सकुचित नही है, बल्कि ईश्वर-दत्त प्रकृति का एक शक्ति के रूप में परिवर्त्तन करके जो अपनी परिस्थिति का सामना कर सकता है, "वही जी सकता है" ऐसा होता है।

तात्पर्य यह है कि मुझे या मुझ-जैसे दूसरे सबो को हमारे स्वभाव मे वश-परम्परागत उतरी हुई अहिंसा का ही विकास करना चाहिए। इस अहिंसा का विकास करके स्वाभिमान, निर्भयता और सफलतापूर्वक हिंसा-वृत्ति के मनुष्य या प्राणी का सामना करने का मार्ग हमें खोजना चाहिए।

अब हम इसी का आगे विचार करेगे।

३. अहिंसा के प्राथमिक नियम

अहिंसा-विज्ञान की खोज मे नीचे लिखी बातें मेरी समझ मे प्राथमिक नियमो के रूप मे मानी जानी चाहिएँ।

(१) अहिंसा के ही विकास और सस्कार-द्वारा शक्ति पैदा करने का हमारा निश्चय होना चाहिए। तत्कालीन लाभ-हानि की दृष्टि से हिंसा के तरीके आजमाने से या हिंसा-वृत्ति पैदा करने की चेष्टा करने से यह शक्ति उत्पन्न नही की जा सकती।

(२) अहिंसा का डरपोकपन, असाहस आदि से तलाक कराना चाहिए और बचपन से ही अहिंसक साहस और वीरता बढ़ाने के उपायो की योजना करनी चाहिए।

(३) अहिंसा का एक व्यक्तिगत गुण या विभूति के रूप मे ही नही, बल्कि सामाजिक शक्ति के रूप मे विकास होना चाहिए। एक उदा-

हरण देकर इसे समझाता हूँ। 'दूरदर्शन' 'दूरश्रवण' आदि सिद्धियाँ योगाभ्यास की विभूति के रूप मे कोई व्यक्ति प्राप्त करता है, यह प्राप्ति उसकी अपनी व्यक्तिगत ही रहती है; परन्तु विज्ञान-द्वारा प्राप्त तार, टेलीफोन, रेडियो आदि सिद्धियाँ सामाजिक है। अथवा एक दूसरा दृष्टान्त लीजिए। महाभारत मे 'मोहास्त्र', 'आग्नेयास्त्र', 'वरुणास्त्र' आदि अनेक अस्त्रो का जिक्र है। भिन्न-भिन्न मन्त्रो के अधीन होने के कारण इन सब अस्त्रो का उपयोग उसी व्यक्ति द्वारा हो सकता था, जिसने वे मन्त्र सिद्ध किये हो। परन्तु आज के हिंसा के साधन वैज्ञानिक होने के कारण उनकी अपेक्षा बहुत ज्यादा समाजगत है। इसी तरह जिस अहिंसा को हमे सिद्ध करना है वह किसी 'राग-द्वेषविषार्तिरहित' 'पूर्ण विरागी' पुरुष द्वारा सिद्ध किये हुए गुण के रूप मे नही, लेकिन सामाजिक जीवन व्यतीत करनेवाले, काम-क्रोधादिक विकारो से कुछ न कुछ पराभूत होनेवाले और फिर भी स्वभाव और बुद्धि दोनो से शान्ति चाहनेवाले लोग जिस तरह रेडियो या फोन का उपयोग कर सकते है, उस तरह जिसका उपयोग कर सके ऐसी अहिंसा सिद्ध करनी है।

(४) सगठन से पैदा होनेवाली हरएक सामाजिक शक्ति की एक मर्यादा हमे भूलनी न चाहिए। हमारा सगठन हिंसक हो या अहिंसक, एक हदतक उसमे जान-माल का खतरा रहता ही है। जब हम फौज द्वारा अपनी रक्षा करने की सोचते है तब हम यह अपेक्षा नही करते कि हमारे देश के एक भी व्यक्ति की मृत्यु के बिना और देश की कुछ भी हानि हुए बिना ही उसका बचाव हो जायेगा। लेकिन इस श्रद्धा से हम इन साधनो को जुटाते है कि थोडी-सी हानि सहन कर लेने से बहुत बडा लाभ होगा, अथवा सर्वस्व-नाश से बचने के लिए इतनी हानि सहना अनिवार्य है। अहिंसक सगठन के विषय में भी इसी तरह

सोचना चाहिए । अब उचित व्यवहार्य सवाल तो यह है कि समाज को अहिंसक संगठन से ज्यादा खतरा है या हिंसक सगठन से ? यद्यपि इसका निश्चित उत्तर तबतक नही दिया जा सकता जबतक कि हम एक निष्ठावान, कुशल और अहिंसक शिक्षण पाया हुआ समाज निर्माण नही कर सके है, तो भी, इतना तो जरूर कह सकते है कि इसमे हमें और हमारे शत्रु को भी आर्थिक और शारीरिक क्लेशो का कम से कम खतरा है ।

(५) आज की परिस्थिति मे हमारे देश में एक हदतक हिंसा और अहिंसा को साथ-साथ चलना होगा । सख्या मे अहिंसक समाज बडा होने पर भी, हिसक समाज बिल्कुल ही नगण्य नहीं है, और वह साधनो से सुसम्पन्न है । साम्राज्यवाद, वर्ग-विग्रह आदि नामो से हम जिसे पह-चानते है उसका सच्चा स्वरूप यदि देखा जाये तो हिसा के साधनो से सम्पन्नता और उसका अभाव ही हिसक और अहिसक समाजों की परि-स्थितियो के बीच का भेद है । जो लोग हिसा के साधनो से सम्पन्न है उनकी रक्षा की जिम्मेदारी की चिन्ता करने की अहिसक समाज को जरूरत नही, बल्कि जरूरत तो यह है कि अगर वह साधन अहिसक समाज के विरुद्ध प्रयुक्त किया जाये तो वह निकम्मा किस प्रकार किया जा सकता है ?

इसका ज्यादा स्पष्टरूप से विचार किया जाये तो शस्त्र, धन, शरीर-बल, अधिकार, उम्र, लिंग, कौम, विद्या, बुद्धि, धर्म या दूसरे किसी बल का उपयोग, जो लोग उन बलो से वचित है, उनकी सेवा और भलाई के लिए किये जाने के बदले जब उन कमजोर लोगो का दमन करने के लिए किया जाता हो, तो अहिसक समाज के पास ऐसी शक्ति होनी चाहिए, कि जिससे वह उस गलत रास्ते से जानेवाली शक्ति को निकम्मा

ठहरा सके। याने निःशस्त्र, निर्धन, निर्बल, पराधीन, बालक, स्त्री, दलित, अनपढ, मंदबुद्धि, साधु आदि लोगो की वह विशेष परिस्थिति एक कमी के रूप मे नही बल्कि एक शक्ति के रूप में प्रकट होनी चाहिए। यह अनुभव तो थोडा बहुत सभी को है कि बालक, स्त्री और साधु अपनी स्थिति का शक्ति के रूप में सफल उपयोग कर सकते हैं। बाज दफा वह उपयोग शक्ति के भान से नही बल्कि लाचारी की भावना से होता है। कभी-कभी कपट से भी होता है। इसलिए उसमें गुस्सा, दु:ख, दम्भ आदि दोष भी होते है। शायद इस ओर हमारा खयाल नही गया कि मनुष्य समाज मे निर्बल, अपग और निर्धन लोग अक्सर अपनी उस कमी की बदौलत ही अपना जीवन टिका सकते है। साग और नीरोग भिखारी की अपेक्षा अधे, लूले, लँगडे, रोगी भिखारियो को क्यो ज्यादा दान मिलता है ? चारो ओर बेकारी हो तो भी इनकी यह अपगता ही इन्हे जिलाने मे समर्थ होती है। बहुतेरे भिखारी यह जानते हैं कि अपगता भी एक शक्ति है, इसलिए जान-बूझकर अपग बनने या अपने बालको को अपग करने की युक्तियाँ भी वे काम में लाते हैं। लेकिन ये सब मार्ग अज्ञान और वैयक्तिक सकुचित दृष्टि से खोजे गये है। उनका ज्ञानपूर्वक और समाज-हित की दृष्टि से शोधन नही हुआ। फिर भी, इन विकृत युक्तियो की एक निश्चित अनुभव पर रचना हुई है। वह यह कि प्रत्येक मनुष्य में कोमलता और समभाव होता है, दीन के प्रति बन्धुभाव और आदरभाव होता है, और जो उसे जाग्रत कर सकता है वह जीवन में निभ सकता है। कभी-कभी उसके बल पर अन्याय्य और अनुचित माँगें भी पूरी करा ली जाती है। तब जहाँ अपने पक्ष में न्याय हो वहाँ सफलता के विषय में सदेह की कम गुजाइश है।

एक उपमा देकर इसे स्पष्ट करता हूँ। अहिंसक कलह अथवा सत्या-

यह एक पुरुष और उसकी मानिनी स्त्री के झगडे की तरह है। मानिनी अपने पति से रूठती है, लेकिन उससे द्वेष नही करती। अपने पति के अहित की इच्छा तो वह तनिक भी नही कर सकती। उसका त्याग करने के लिए नही बल्कि उसे और भी ज्यादा वश मे करने के लिए वह उससे रूठती है। लेकिन इसके लिए वह उसके पैरो पडना, आजिजी करना, भीख मांगना या अपना स्वाभिमान खोना आदि उपाय नही करती। इस मूल बात को पकडकर कि उसका पति उससे या वह अपने पति से प्रेम करती है वह अपनी शक्ति प्रकट करती है। मतलब यह कि जिस बात को हमारा प्रतिपक्षी एक विपत्ति या नि सहायता समझता है उसीको अपनी शक्ति बनाने में हमारी सफलता की कुजी है।

(६) विग्रह चाहे हिंसक हो या अहिंसक, अन्त मे जीत किस तरह होती है ? शुद्ध द्वन्द्व-युद्धो के कुछ प्रसग छोड दें, तो दूसरे सब झगडो के अवलोकन से पता चलेगा कि जीत का अन्तिम आधार किसी पक्ष का स्थूल बल नही, बल्कि जैसे-जैसे विग्रह बढता जाये वैसे-वैसे प्रतिपक्षी के दिल में हमारी शक्ति के प्रति आदर और खुद अपने प्रति अश्रद्धा या शका आदि की वृद्धि है। अग्रेज, देशी नरेश या किसी कौम के हृदय मे हमसे लडते हुए भी अगर हमारे प्रति आदर बढता रहे तो हम यह निश्चय मानले कि अन्त मे जीत हमारी ही होगी। मगर यदि उनके दिल में हमारे प्रति अनादर बढता जाये तो एकाध बार वे हमारी शरण मे आ भी जाये तो भी हमें समझना चाहिए कि वे फिर लड़ने खड़े होगे। यह आदरबुद्धि हिंसक और अहिंसक साधनो के अनुसार अलग-अलग निमित्तो से पैदा हुई है। हिंसक साधनों में जिन निमित्तो के जरिये स्वनाश का डर पैदा होता है, उनके कारण आदर बढ़ता है। अहिंसक साधनो में हमारे चारित्र्य का परिचय होने से

आदर बढता है। "आदर-बुद्धि" को सस्कृत में 'भय' भी कहते हैं (अग्रेजी मे इसके लिए 'ऑ' (Awe) शब्द है) इसी अर्थ में ईश्वर को "भयाना भय" कहा है—अर्थात् आदरणीयो के भी आदरणीय। यही अर्थ इस कहावत का भी है कि 'भय बिनु होइ न प्रीति'। आजकल हम 'भय' शब्द से सिर्फ "आपत्ति का डर" ही समझते हैं। पर यह संकुचित अर्थ है। दशरथ-सा बाप और राम-सा पुत्र हो तब भी पुत्र के मन में पिता के लिए एक तरह का आदर-युक्त भय रहता है। गुरु इनाम देनेवाले हैं, यह जानते हुए भी विद्यार्थी उनके पास जाते हुए अक्सर कांपता है। इस तरह अपने से श्रेष्ठ पुरुष के लिए आदर के कारण डर होता है, ऐसा आदर-रूप भय होने मे दोष नही है और आखिर में इस प्रकार का भय ही कलह का अन्त करता है। इस अर्थ मे 'भय बिनु होइ न प्रीति' वाली कहावत ठीक ही है। यदि काग्रेस की ओर देखें तो साफ मालूम होगा कि जितने अश मे उसके प्रति विपक्षी या जनता के दिल में आदर है, उतनी ही उसकी शक्ति है।

मतलब यह कि हिंसक दल की तरह अहिंसा का ध्येय भी प्रतिपक्षी के दिल मे आदर उत्पन्न करता है। इसके लिए शरीर, मन और वाणी का सयम, धन और स्त्री के विषय में उच्च शील, सरलता, अगुप्तता, प्रतिपक्षी को सम्पूर्ण अभय दान अपने पक्ष के अनुशासन का उत्कृष्ट पालन, उद्योगिता, विविध त्याग, कष्ट-सहन आदि उसके साधन हैं। और क्योंकि इनमें पशुबल का त्याग है इसलिए ये ही अहिंसा के साधन हैं। इसमे वाणी का जहर, गुप्त चालबाजी, प्रतिपक्षी को धोखा देने, डराने, परेशान करने आदि की हिकमते, आलस, चोरी, तिकड़म, स्वार्थ-साधन आदि बाजियो का प्रयोग सफल हो जाये तो भी ये सब छल-प्रपंच अनादर उत्पन्न करनेवाले होने के कारण अहिंसक युद्ध में आखिर हमारी

ही हानि करते हैं। इस तरह अहिंसक युद्ध में उच्च चरित्र जीत के लिए अनिवार्य है।

(७) और एक महत्त्व की बात यह है कि अहिंसक मार्ग पर रहने-वाले समाज को अपने मन मे यह खूब अच्छी तरह समझना चाहिए कि कितना ही विकट और जीवन-मृत्यु का विग्रह क्यो न हो उसमे प्रतिपक्षी के अहित की इच्छा नही की जा सकती, जिमसे उसके मन में हमारे प्रति क्रोध, तिरस्कार या बैर पैदा हो ऐसी भाषा या व्यवहार लडाई के दौरान मे भी नही किया जा सकता। उसका जान-माल खतरे में है, ऐसी दहशत उसके दिल में नही पैदा की जा सकती।

(८) और अत में सबसे बडी बात है चैतन्य में श्रद्धा। सब बाह्य शक्तियो का उद्भव चैतन्य से है और उसीमें उसकी स्थिति है। बाह्य साधनो की वह माता है, और उनपर प्रभुत्व रखती है। किसी भी परि-स्थिति को वश मे करने के लिए आवश्यक रूप मे बाह्य शक्ति प्रकट करने की वह क्षमता रखती है। जो एकाग्रता से उसकी खोज करता है उसके द्वारा वह प्रकट होती है और फैलती है। हिंसक साधनो की खोज के लिए मेहनत उठानेवालो के सामने उन रूपो में वह प्रकट हुई है, अहिंसक तप करनेवालो के सामने उनके अनुकूल रूपो में प्रकट होगी।

: ५ :

अहिंसा की कुछ पहेलियाँ

अहिंसा के बारे में कभी-कभी गहरे और जटिल सवाल किये जाते है। इनमे से कुछ का मै यहाँ थोडा विचार करना चाहता हूँ।

(१) **प्रश्न**—पूर्णता प्राप्त किये बगैर सम्पूर्ण अहिसा शक्य नही है। गाधीजी खुद भी अपनी अहिसा को अधूरी मानते है। तो फिर सारे समाज को या हमारे जैसे अपूर्ण व्यक्तियो को अहिसा की सिद्धि किस तरह मिल सकती है?

उत्तर—कभी-कभी बहुत गहरे विचार मे उतर जाने से हम गगन-विहारी बन जाते है। कसरत करनेवाला हरएक व्यक्ति दौडती हुई मोटर रोकने, या चार-पाँच मन का पत्थर छाती पर रखने, या गामा की बराबरी करने की शक्ति प्राप्त नही कर सकता। फिर भी, यह मुमकिन है कि इन लोगो से भी बढकर कोई पहलवान दुनिया मे पैदा हो। अगर इन्ही को शारीरिक शक्ति का आदर्श माना जाये तो साधारण आदमी—चाहे वह कितनी भी मेहनत से शरीर मजबूत करने की कोशिश करे, तो भी—अपूर्ण ही रहेगा। तब क्या आम जनता के लिए जो अखाडे है वे बन्द कर दिये जायें? उत्तर साफ है कि 'नहीं', क्योंकि अखाडो का मुख्य उद्देश्य गामा-जैसे पहलवानो को ही निर्माण करना नहीं है, बल्कि साधारण दुनियादारी मे सैकडो आदमियो को जितने और जिस प्रकार के शारीरिक विकास की जरूरत हो उतना और उस प्रकार का विकास कराना है। जो व्यायामशाला यह करा सकती है उसे हम सफल संस्था कहेगे, चाहे उसके सौ साल के इतिहास में उसमें से एक भी गामा या राममूर्ति भले ही न निकला हो। इन अखाडों

में गामा और राममूर्तियो का सम्मान, तथा मार्गदर्शक की हैसियत से उपयोग हो सकता है, लेकिन उन जैसा बनने की सबकी महत्त्वाकाक्षा नही हो सकती। उसके उस्ताद के लिए भी वह कसौटी नही हो सकती।

एक दूसरा उदाहरण ले लीजिए। सेनापति मे युद्ध-शास्त्र की जितनी काबलियत चाहिए उतनी हर एक छोटे अमले में, तथा छोटे अमले जितनी काबलियत सामान्य सिपाहियो में हो, ऐसी अपेक्षा कोई नही करेगा। उसी तरह अगर गाधीजी की अहिंसावृत्ति हर एक कार्यकर्ता अपने मे पा न सके, अथवा कार्यकर्त्ता की लियाकत साधारण जनता मे आना सम्भव न हो, तो इसमे घबराने की कोई बात नही। इससे उलटी स्थिति की अपेक्षा करना ही गलत होगा। जरूरत तो यह खोजने की है कि अहिंसा की कम-से-कम तालीम कितनी और किस तरह की होनी चाहिए? उससे अधिक लियाकत रखनेवाला मनुष्य एक छोटा नेता, या गाधी या सवाई गाधी भी बन सकता है। वैसी सदभिलाषा व्यक्तियो के दिल मे भले ही हो, लेकिन जो उसतक नही पहुँच सकता उसे निराश होने की जरूरत नही। उसके लिए परीक्षा की कम-से-कम लियाकत हासिल करने का ही ध्येय रखना काफी है।

(२) **प्रश्न**—जिसे क्रोध आता हो, जो गुस्से में कभी बच्चो को पीट भी लेता हो, जिसकी किसी के साथ बोल-चाल भी हो जाती हो, ऐसा शख्स क्या यह कह सकता है कि उसकी अहिंसा-धर्म मे श्रद्धा है?

उत्तर—हम इस वक्त जिस प्रकार की और जिस क्षेत्र की अहिसा का विचार कर रहे है उसमे "गुस्से के मानी में क्रोध" और "द्वेष वैर, जहर, के मानी मे क्रोध" का भेद समझना जरूरी है। मा, बाप, शिक्षक आदि कभी-कभी बच्चो पर गुस्सा करते है और उन्हे सजा भी देते है। रास्ते पर पानी के नल या कुएँ पर कभी-कभी स्त्रियो में

बोलचाल हो जाती है। पड़ोसियों में एक का कचरा दूसरे के घर में उड़ने जैसी छोटी-सी बात पर भी झगड़ा हो जाता है। बुढ़ापे या बीमारी में अनेक लोग बदमिजाज हो जाते हैं और छोटी-छोटी बातों से चिढ़ते हैं। यह सब क्रोध ही है और दुर्गुण भी है। फिर भी, इतने से हम इन लोगों को द्वेषी, जहरीले, या वैरवृत्तिवाले नहीं कहेंगे। उलटे कई बार यह भी पाया जायेगा कि खुले दिल के और सरल स्वभाव के लोगों में ही इस प्रकार का क्रोध ज्यादा होता है और कपटी आदमी ज्यादा संयम बताते हैं। इस प्रकार का गुस्सा जिसके प्रति प्रेम और मित्रभाव हो उसपर भी होता है। बल्कि उसीपर ज्यादा जल्दी होता है; पराये आदमी पर कम होता है। यह स्वभाव शिक्षा, संस्कार वगैरः की कमी का परिणाम है, द्वेषवृत्ति का नहीं। अहिंसा-धर्म में प्रगति करने और उसके एक आदरपात्र सेवक और अगुआ बनने के लिए यह त्रुटि जरूर दूर होनी चाहिए। लेकिन ऐसा नहीं कि ऐसी त्रुटि होने के कारण कोई आदमी अहिंसा-धर्म का सिपाही भी नहीं हो सकता। अहिंसा के लिए जो वस्तु महत्त्व की है वह है अद्वेष या अवैरवृत्ति। किसी ने कुछ नुकसान या अपमान किया हो तब उसका बदला किस तरह ले, उसे नुकसान किस तरह पहुँचायें, आदि के विचार जिसके मन में आते रहते हैं और जो उस बात को भूल ही नहीं सकता बल्कि बदला लेने के मौके ही ढूँढ़ता रहता है और उस आदमी का कुछ अनिष्ट हो तो खुश होता है, उसके दिल में हिंसा, द्वेष या वैर की वृत्ति है। क्रोध आये, शोक भी हो, फिर भी, अगर मन में ऐसे भाव न उठ सकें तो वह अहिंसा है। नुकसान करनेवाले का बुरा न चाहने की शुभ वृत्ति जिसके दिल में है वह प्रसंगवशात् क्रोधवश होता हो, तो भी वह अहिंसा-धर्म का उम्मीदवार हो सकता है। यह दूसरी बात है कि जितनी

हदतक वह अपने गुस्से को रोकना सीखेगा उतना ही वह अहिंसा में ज्यादा शक्ति हासिल करेगा। तात्त्विक दृष्टि से यह कह सकते हैं कि इस 'चिढ के क्रोध' और 'वैर के क्रोध' में सिर्फ मात्रा का ही भेद है। फिर भी यह भेद उतना ही बडा और महत्त्व का है जितना कि नहाने लायक गरम पानी और उबलते हुए गरम पानी के बीच का है।

(३) **प्रश्न**—बहस या भाषणो में प्रतिपक्षी का मजाक उडाने, वाग्बाण चलाने या तिरस्कार की भाषा इस्तेमाल करने में जो अहिंसा-भग होता है वह किस हदतक निर्दोष माना जाये ?

उत्तर—मान लीजिए कि हिंसा का सादा अर्थ है घाव करना। जो प्रहार दूसरे को घाव के जैसा मालूम होता है, वह हिंसा है; फिर वह हाथ-पैर या शस्त्र से किया हो, या दिल मे छिपी हुई बद दुआ से हो। स्थूल घाव जब सीधी छुरी का होता है तो कम चोट करता है। टेढ़ी बरछी का हो तो बदन का ज्यादा हिस्सा चीर डालता है। तकली की तरह नुकीला शस्त्र हो तो उसका घाव और भी ज्यादा खतरनाक होता है। उसी तरह शब्दो का घाव सीधा हो तो जितनी इजा देता है उससे बाह्य दृष्टि से विनोदात्मक, लेकिन तिरस्कार और वक्रतायुक्त शब्द ज्यादा चोट पहुँचाता है। जो प्रतिपक्षी के नाजुक भाग को जख्म पहुँचाता है, वह घाव ही है। और यह तो हम जान सकते है कि हमारा शब्द किसी आदमी को महज विनोद मालूम होगा या प्रहार। इसलिए अहिंसा में ऐसे प्रहार करना अनुचित है।

(४) **प्रश्न**—अहिंसा मे अपनी व्यक्तिगत अथवा सस्था की रक्षा, अथवा न्याय के लिए पुलिस या कचहरी की मदद ली जा सकती है या नही ? चोर, डाकू या गुण्डो के हमले का सामना बल से कर सकते है या नहीं ? अहिंसावादी स्त्री अपनी इज्जत पर आक्रमण करनेवाले

पर प्रहार कर सकती है या नही ?

उत्तर---यहाँ पर सामान्य जनता और प्रयत्नपूर्वक अहिंसा की उपासना करनेवाले में कुछ भेद करना चाहिए। जो अपेक्षा एक विचारशील अहिंसक कार्यकर्मी से की जाती है वह सामान्य जनता से नही की जाती। मतलब, सामान्य जनता के लिए अहिंसा की मर्यादा कुछ मोटी होना अनिवार्य है। इसलिए अगर हम इतना ही विचार करें कि सामान्य जनता के लिए अहिंसा-धर्म का कब और कितना पालन जरूरी समझना चाहिए तो काफी होगा। समझदार व्यक्ति अपनी-अपनी शक्ति के मुताबिक इससे आगे बढ सकते है।

इस दृष्टि से, अहिंसा के विकास के मानी है जंगल के कानून में से सभ्यता अथवा कानूनी व्यवस्था की ओर प्रयाण। अगर हर एक आदमी अपने भय-दाता या अन्यायकर्ता के सामने हमेशा बन्दूक उठाकर या आदमियो को इकट्ठा करके ही खडा होता रहे तो वह जगल का कायदा कहा जायेगा। इसलिए जहाँ पुलिस या कचहरी का आश्रय लेने के लि भरपूर समय या अनुकूलता हो वहाँ जो शख्स अहिंसा की उच्च मर्यादा का पालन नही कर सकता वह उनका आश्रय ले तो समाज के लिए आवश्यक अहिंसा की मर्यादा का पालन हुआ माना जायेगा। जहाँ वैसा आश्रय लेने की गुजाइश न हो (जैसे कि जब चोर या हमला करनेवाला प्रत्यक्ष सामने आया हो) वहाँ वह अपनी आत्मरक्षा के लिए और गुनहगार को पुलिस के हवाले करने की गर्ज से उसे अपने वश में लाने के लिए, जितना आवश्यक हो उतने ही बल का उपयोग करे तो उसमे होनेवाली हिंसा क्षम्य मानी जायेगी। मगर बात यह है कि आमतौर पर लोग उतने ही बल का प्रयोग नही करते। कब्जे में आये हुए गुनहगार को बुरी-बुरी गालियाँ देते है और तनी बुरी

तरह पीटते है कि बाज दफा वह अधमरा होजाता है। यह हिंसा अक्षम्य है; यह हैवानियत है। समाज को ऐसे बर्ताव से परहेज रखने की तालीम देना जरूरी है। अहिंसा-पसन्द समाज के लिए यह समझ लेना जरूरी है कि हरेक गुनहगार को एक प्रकार का रोगी ही मानना चाहिए। जिस तरह तलवार लेकर दौडते हुए किसी पागल को या सन्निपात में उद्दडता करनेवाले किसी रोगी को जबरदस्ती करके भी वश में लाना पडता है, उसी तरह चोर, लुटेरे या अत्याचारी को पकड तो लेना होगा, लेकिन पागल या सन्निपातवाले मरीज को वश में करने के बाद हम उसे पीटते नही रहते। उल्टे, उसको रहम की दृष्टि से देखते है। यही दृष्टि दूसरे गुनहगारो के प्रति भी होनी चाहिए। उसे हम पुलिस को सौपते है इसके मानी ये है कि वैसे रोगियो का इलाज करनेवाली सस्था के हाथ में हम उसे दे देते है। यह सच है कि यह सस्था भी आज ऐसे ही अज्ञानी उस्तादो की बनी हुई है, जो पुराने जमाने के शिक्षको की तरह यह मानते है कि "चमोटी लागे चमचम, विद्या आवे झमझम।" लेकिन यह दोष समाज-विज्ञान के और अहिंसा के विकास के साथ सुधरनेवाली चीज है। यह संस्था सुधरकर एक प्रकार की अस्पताल, पाठशाला या खास बस्ती भले ही बन जाये और उसका नाम भी भले ही बदल दिया जाये, फिर भी गुनहगारो का कब्जा लेनेवाली सस्था तो वही रहेगी।

सामाजिक दृष्टि से हिंसा-अहिंसा का जो वाद है, उसे इस तरह की अनिवार्य आत्म-रक्षा के विषय में छेडने की जरूरत नही है। परन्तु सच्चे, या माने हुए, हको की प्राप्ति और कर्तव्यो की अदाई के बारे में ही इसका विचार करने की जरूरत है। हम हिन्दुस्तानी लोग कहते हैं "स्वराज्य हमारा जन्मसिद्ध अधिकार है।" मुसलमान कहते है, गाय, की

कुर्बानी करना हमारा हक है।" अथवा 'मसजिद के आसपास शांति रखना हमारा कर्तव्य है।' हिन्दू कहते हैं, 'बाजे बजाना हमारा हक है' या 'गो-हत्या रोकना हमारा कर्तव्य है।' सवर्ण कहते है, 'हरिजनों को दूर रखना हमारा धर्म है।' हरिजन पक्षपाती कहते हैं. 'समानता उनका हक है'---इसी तरह मजदूर, किसान, मालिक, जमीदार, राजा, प्रजा, और भिन्न-भिन्न राष्ट्र अपने हक या कर्तव्य का दावा एक दूसरे के सामने पेश करते है।

हक या कर्तव्य की यह बुद्धि व्यक्तिगत हो, छोटी या बड़ी कौम की हो या सारे राष्ट्र की हो, उसका फैसला करने का अन्तिम साधन कौन सा है ? जबरदस्ती मारपीट ? युद्ध ? अगर हम यह कहे कि हमारा विश्वास अहिंसा मे ही है, तो उसके मानी होते है, इन साधनों का त्याग। किसी भी हक को हासिल करने, या कर्तव्य को अदा करने के लिए गाली-गलोज, जबरदस्ती, मारपीट, युद्ध, तोडफोड, आग-अंगार आदि नही किये जा सकते। प्रतिपक्षी के प्रति तिरस्कार नही बताया जा सकता और उसके दिल में दहशत भी नहीं पैदा की जा सकती। इतनी बातो को अच्छी तरह समझकर तदनुसार बर्ताव करने का नाम है 'अहिंसा की तालीम'। यह तालीम यदि कार्यकर्त्ता और आम जनता को मिल जाये तो कह सकते है कि लोग अहिंसात्मक आन्दोलन के लिए तैयार है। १९३० के, तथा चम्पारन, बारडोली, बोरसद आदि के सत्याग्रहो में साधारण जनता इस बात को इशारे से ही समझ गयी थी। उसने एक खासी हदतक उसी तरह बर्ताव भी रक्खा था। उस वक्त इस शर्त की हँसी करनेवाले या उसकी आवश्यकता पर शका करनेवाले, या उससे असंगत आन्दोलन करनेवाले कोई नेता न थे। आज वह वायु-मण्डल नही है। उस वायुमण्डल को फिर से पैदा करना और लोगों मे

ऐसी एक बलवान निष्ठा कायम करना कि जिससे कितनी ही विपरीत बातें कही जाने पर भी वे किसी भी हक या धर्म के लिए अहिंसा की मर्यादा न तोड़ें अहिंसावादी सेवक का ध्येय है। आम लोगो के लिए अहिंसा-धर्म की इससे अधिक गहरी व्याख्या में उतरने की जरूरत नही।

अहिंसा-शक्ति के प्रयोग की खोज करनेवाले सेवको को बेशक ज्यादा गहरे अर्थ में उतरना होगा। इसलिए जिन प्रसगो में आम लोगों को पुलिस, कचहरी या बल का आश्रय लेनें की छूट हो सकती है, वहाँ पर भी वह अहिंसक इलाज को ही आजमाने का, या नुकसान सहन कर लेने का सकल्प कर सकता है। जब यह संकल्प वह अपने व्यक्तिगत सम्बन्ध मे करेगा तभी तो अपनी सस्था के लिए करने का अधिकार उसे हो सकता है। बल्कि यह भी हो सकता है कि व्यक्तिगत मामलो में इस सकल्प पर चलते हुए भी अपने अधीन सार्वजनिक सस्था के सम्बन्ध में वह उसपर न चले। यह बात हरएक कार्यकर्त्ता की अपनी अहिंसावृत्ति और प्रयोग के प्रति निष्ठा की दृढता पर अवलबित है।

(५) प्रश्न---जहाँ कौमी झगडे न हो वहाँ अहिंसा को मुख्य काम किस तरह बनाया जा सकता है, और अहिंसक इलाज की खोज किस तरह की जा सकती है?

उत्तर---कौमी झगड़े का अर्थ सिर्फ हिन्दू-मुसलमानो का झगड़ा ही न किया जाये, बल्कि झगड़ा-झमेला करनेवाले दो पक्ष जहाँपर है वहाँ कौमी झगडे का अस्तित्व माना जाये। इस अर्थ में हमारे कमनसीब देश में शायद ही कोई ऐसा क्षेत्र मिलेगा जहाँ यह स्थिति न हो। फिर जहाँपर सबल निर्बल को सताता है वहाँ दो पक्ष पैदा हुए न हो तो भी अहिंसक इलाज की खोज के लिए क्षेत्र है। उदाहरणार्थ, कुछ स्थानो में परम्परागत प्राचीन रूढि से कुलीन मानी गयी जातियाँ, नीच कही जानेवाली जातियो पर

इस प्रकार पद्धतिपूर्वक हुकम चलाती हैं, और उनको ऐसी दहशत में रखती आयी है कि उन दलित जातियों में अपना एक पक्ष निर्माण करने की भी हिम्मत नही है। बाहरी दृष्टि से कह सकते हैं कि यहाँ न कौमी झगड़े है न वे पक्ष। लेकिन सचमुच में यह स्थिति झगड़े से भी ज्यादा भयंकर है और कभी न कभी तीव्र झगड़े का स्वरूप ले लेगी। यहाँपर दलित वर्ग में अहिंसा-युक्त जागृति करना और अधिकारभोगी वर्ग में कर्तव्य का भान पैदा करना सेवक के कार्यक्षेत्र में आ जाता है। जो इसका इलाज ढूंढ सकेगा वह हिन्दू-मुसलमानो के झगडो का अन्त करने के इलाज की शोध मे भी अपना हिस्सा अदा करेगा।

: ६ :

अहिंसा की मर्यादाएँ

"क्या अहिंसा की शक्ति अपरिमित है ? हम जो-जो उद्देश्य अपने सामने रखे, वे सब क्या अहिंसा से सिद्ध हो सकते हैं ? क्या एक मर्यादा के बाद हमें कामयाबी के लिए हिंसा का सहारा नही लेना पडेगा ?"

विश्वविद्यालय के अध्यापको की एक खानगी सभा में मुझसे इन सवालो के जवाब देने को कहा गया था।

मेरा जवाब इस प्रकार था —

मैं मानता हूँ कि अहिंसा के व्यवहार की कुछ स्वभावसिद्ध मर्यादाएँ है। जैसे---दूसरो को नुकसान पहुँचानेवाले हक आप अहिंसा से न तो हासिल कर सकते है और न उनको कायम ही रख सकते है। मसलन् यदि आप किसी ऐसी राजनैतिक व्यवस्था की स्थापना या रक्षा करना चाहे, जिसमे अंग्रेज, मुसलमान, हिन्दू या देशी राजा अथवा किन्ही आर्थिक वर्गों की हुकूमत दूसरो पर चले, तो आप अहिंसा से काम नही ले सकते। जो बात राजनैतिक व्यवस्था पर लागू है, वही दूसरी सारी व्यवस्थाओ के लिए भी उतनी ही लागू है। लेकिन, यदि आप ऐसी राजनैतिक, सामाजिक और आर्थिक व्यवस्था कायम करना चाहे, जिसका उद्देश्य हर एक व्यक्ति के समान रुतबे और समान सुयोगो का उपभोग करने मे आनेवाली रुकावटो को दूर करना हो, तो ऐसी व्यवस्था आप सम्पूर्ण रूप से केवल अहिंसा के द्वारा स्थापित कर सकते है।

दुष्टता के प्रयोग या रक्षा के लिए मनुष्य ने हमेशा हिंसा से ही काम लिया है। कभी-कभी बुराई के प्रतिकार के लिए भी उसने हिंसा का प्रयोग किया है। जो दुष्टता की रक्षा या प्रयोग करना चाहता है,

वह कभी अहिंसक क्रिया का बन्धन नहीं मानेगा। अगर वह अहिंसा का श्रेय लेने का दम भी भरना चाहेगा, तो वह ऐसी परिस्थिति पैदा करेगा कि उसके लिए प्रत्यक्ष हिंसा के प्रयोग की जरूरत ही न रहे और उसके विपक्षी के लिए हिंसा का प्रयोग निष्फल हो। याने वह शस्त्रास्त्रो से इतना लैस और सुसज्जित हो जायेगा कि उसके प्रतिपक्षी के लिए उसका सामना करने या बदला लेने की कल्पना भी करना दुश्वार हो जाये। उसके धर्म-शास्त्र में बिना बदला लिये कष्ट-सहन का कोई स्थान नहीं हो सकता।

इसलिए कोई भी साम्राज्य-निर्माता—चाहे वह नाजी, फैसी अथवा ब्रिटिश पद्धति का हो या जापानी, मुसलमानी और हिन्दू-पद्धति का—अहिंसा का मखौल किये बिना नही रह सकता। वह हिंसा का कर्त्तव्य साबित करने के लिए हर एक धर्म के शास्त्रों में से प्रमाण उपस्थित करेगा।

लेकिन, कुछ ऐसे साम्राज्य-विरोधी सच्चे जिज्ञासु भी है, जो अहिंसा की कार्यक्षमता के विषय में निःसदिग्ध विश्वास प्राप्त करना चाहते हे। 'क्या अहिंसा अपने-आप म मनुष्य के न्याय्य अधिकारों की प्राप्ति और रक्षा का, या यो कहिए कि मनुष्य जिन अन्यायों को अनुभव करता है और जिनके विषय मे किसी को कोई सन्देह नही रह गया है, उन अन्यायो के निवारण का, पर्याप्त आयुध है ?' वह जिज्ञासु हिंसा से उकता गया है और दूसरे कारगर उपाय की तलाश में है। वह रास्ता टटोलता हुआ अहिंसा की तरफ बढता है, लेकिन हर क़दम पर उसे सन्देह होता है कि क्या सचमुच यह राह उसे मंजिले-मकसूद पर पहुँचा देगी ?

सत्याग्रह के जनक का तो यह दावा ह कि सत्याग्रह अपने-आप में क सम्पूर्ण अस्त्र है, जो न्याय और समानता पर खड़ी हुई दुनिया की

नवरचना कायम कर सकता है और इस विधान की रक्षा के लिए हिंसा की सहायता की जरूरत नही रहेगी। हम जानते हैं कि एक हद तक सारी दुनिया ने उस दावे को मान लिया है। यह स्वीकृति हिंसा और अहिंसा के गुण-दोषों की तात्विक चर्चा का ही परिणाम नही है। बल्कि यह प्रत्यक्ष अनुभव का परिणाम है कि अहिंसक प्रतिकार ने ब्रिटिश सत्ता की जड़ें हिला दी हैं।

परन्तु अभी बहुत-कुछ करना बाक़ी है। तबतक हिंसा के एक कार्य-क्षम पर्याय के रूप में अहिंसा का पूरा-पूरा स्वीकार नही होगा। दुनिया में अभूतपूर्व हिंसा के इस आक्रमण के सामने बहादुर से बहादुर दिल भी कांप उठे इसमें आश्चर्य नही।

सत्याग्रह का प्रवर्तक कहता है कि उसके सिद्धान्त में उसका विश्वास इतना दृढ कभी नही था जितना कि आज है। उसे ऐसा प्रतीत होता है कि हिंसा के पैर अब उखड़ गये है। यद्यपि हममें इतनी अद्‌भुत श्रद्धा न हो तो भी यह कार्य जितना उसका है, उतना ही हमारा भी है। इसलिए उसकी आज्ञाएँ बजा लाकर हम उसकी मदद कर सकते है; क्योंकि उसके मार्ग के अलावा दूसरा विकल्प तो हिंसा का ही हो सकता है। और हम रोज़ देख रहे है कि न्याययुक्त व्यवस्था कायम करने में हिंसा निष्फल साबित हो रही है। उतनी उज्ज्वल श्रद्धा और ज्ञान से नही, तो कम-से-कम सच्ची मेहनत से हम उसका उपाय आजमाये, तो हर्ज तो हर-गिज नही हो सकता। उसके पक्ष मे सारे ससार के धार्मिक पुरुषो का अनुभव है। हम उसे तुच्छ न समझें।

'मण्डल' का गांधी-साहित्य

महात्मा गांधी की रचनाएँ

१. आत्मकथा : विश्व-साहित्य का एक अनमोल रत्न। उपनिषदों-जैसा पवित्र और उपन्यासों-जैसा रोचक। बापू द्वारा सत्य की साधना के पथ की रूप-रेखा। नवीन और सस्ता सस्करण १) : विशेष सस्करण १।।)
सक्षिप्त सस्करण (पाठ्यक्रम के लिए) ।।)

२. दक्षिण अफ्रीका का सत्याग्रह : 'सत्याग्रह' की उत्पत्ति और दक्षिण अफ्रीका में उसके प्रथम प्रयोगो का इतिहास - १।।)

३. अनीति की राह पर : सयम और ब्रह्मचर्य पर लिखे हुए उनके लेख ।।=)

४. ब्रह्मचर्य : संयम और ब्रह्मचर्य पर लिखे हुए नये लेख ।)

५. हमारा कलंक : अप्राप्य इसका अंग्रेजी सस्करण 'ब्लीडिंग वूण्ड' मण्डल से मिलता है। १।)

६. स्वदेशी : ग्रामोद्योग : स्वदेशी और ग्रामोद्योग पर लिखे हुए लेख ।)

७. युद्ध और अहिंसा : युद्ध और अहिंसा पर लिखे हुए लेख ।।।)

८. गीताबोध : गीता का सरल तात्पर्य ~)

९. मंगल-प्रभात : सत्य, अहिंसा, ब्रह्मचर्य आदि एकादश व्रतो पर प्रवचन ~)

१०. अनासक्तियोग : गीता की सरल टीका =) श्लोक-सहित ≡) सजिल्द ।)

११. सर्वोदय : रस्किन के 'अन्टु दिस लास्ट' का रूपान्तर ~)

१२. हिन्द-स्वराज : स्वराज की हमारी समस्या पर लिखी पुरानी पुस्तिका, जो आज भी ताजी है ≡)

१३. ग्रामसेवा : ग्रामसेवा पर लिखा हुआ निबन्ध =)

१४. सत्यवीर सुकरात : यूनान के महापुरुष सुकरात के मुकदमे और उनके बयान का रोचक और शिक्षाप्रद वर्णन ~)

१५. **सत्याग्रह : क्यों, कब और कैसे ?** : सत्याग्रह क्यो कब, और कैसे शुरू किया जाये इसपर लिखे हुए लेख ≡)

गांधी-सम्बन्धी ग्रन्थ

१. **गांधी-विचार-दोहन** : श्री किशोरलाल घ० मशरूवाला— इसमें महात्मा गाधी के विचारो को विषयानुसार वर्गीकरण द्वारा सकलित किया गया है. ।॥)

२. **इंग्लैण्ड में महात्माजी** श्री महादेव ह० देसाई—गाधीजी की दूसरी गोलमेज परिषद के समय की यात्रा का सुन्दर सरस वर्णन ।॥)

३. **गांधी-अभिनन्दन-ग्रन्थ** सम्पादक—श्री सर्वपल्ली राधाकृष्णन् इसमे विदेशी और भारतीय सतो विचारकों, विद्वानो और लोकनेताओ के गाधीजी पर लिखे गये तात्त्विक लेख है। मूल-ग्रथ की अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति है। उसीका हिन्दी अनुवाद १), २)

४. **बापू** : श्री घनश्यामदास बिडला—गाधीजी का अत्यन्त निकट से किया हुआ अध्ययन, रोचक स्मरणीय प्रसगो से पूर्ण, कई भाषाओ में अनुवादित; देश में सर्वप्रशसित; १३ सुन्दर चित्रो सहित ।।≈), सजिल्द १।), हाथ कागज पर छपा २)

६. **डायरी के पन्ने** . श्री घनश्यामदास बिडला—गाधीजी के साथ दूसरी गोलमेज परिषद मे हुई लेखक की यात्रा का रोचक, ज्ञानवर्धक वर्णन, गोलमेज-नाटक के नेपथ्य का परिचय। अनेक चित्रो सहित ।॥) सजिल्द १।)

७. **महात्मा गांधी** श्री रामनाथ 'सुमन'—अप्राप्य

सोल-एजेंसी प्रकाशन

८. **गांधीवाद की रूपरेखा** . श्री रामनाथ 'सुमन'—गाधीवाद का गंभीर और मननीय विवेचन १)